# साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध

महादेवी

चयन : गंगाप्रसाद पाण्डेय

लोकभारती प्रकाशन

१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १

लोक हित-तन्त्री सँभाले
सिन्धु लहरों पर अधिश्रित,
बह चला कवि क्रान्तदर्शी
सब दिशाओं में अबाधित !

—साम पूर्वाचिक ५-१०

# अनुक्रम

# विज्ञप्ति

•

छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य-चिंतन की, नये काव्य-शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नीव रखी, तो यह स्वाभाविक ही था। समालोचना की इस प्राणवन्त प्रणाली मे, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन मे पाठको को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य-सिद्धान्त की स्थापना का भी उद्देश्य रहा हो तो आश्चर्य की बात नही। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से आबद्ध ह्रासोन्मुख-युग मे कवि, जब पाठको की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नही रहता तब उसके लिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है।

कवि समालोचक की दृष्टि मे काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष-साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता तो होती है, सृजन के विभिन्न और विविध तत्वो से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओ का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वय कवि के स्वानुभूत मार्मिक स्पदनो से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता मे भी अमोघ रहती है।

छायावादी कवियो ने अपनी विस्तृत भूमिका मे तथा वक्तव्यो और विज्ञप्तियो द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल और सार्थक चेष्टाएँ की है। महादेवी जी ने ऐसी भूमिकाएँ लिखी है, जो छायावाद-युग मात्र की भूमिकाएँ मानी जा सकती है। वस्तुत वे छायावाद की सबसे समर्थ समालोचक है। उनकी सबसे बडी विशेषता निस्सगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमे प्राचुर्य है। यही कारण

है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न हो कर जीवन को ससिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल-स्वच्छ और सतत् प्रसरणशील है।

वाह्य जीवन की स्थूलता और अन्तर्जगत की सूक्ष्मता के व्यापक अनुभव, चिंतन और मनन से प्राप्त सत्य-शिव और सौन्दर्य के बल पर समालोचक के पूर्व निर्मित सिद्धान्तो और परम्परापोषित विचारो को चुनौती देते हुए काव्य के सच्चे मापदण्ड स्वय कवि की रचनाओ से ही खोजने का उन्होने जो उचित आग्रह किया है, वह समालोचना के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ काव्यालोचन की नयी प्रणाली का भी स्वस्थ सूत्रपात करता है। हिन्दी समीक्षा के स्वरूप में उनकी इस मौलिक देन का ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण रहेगा, इसमे सन्देह नही।

यदि पुरानी काव्य-लीक के प्रेमी और छायावाद के अकारण विरोधी तथा-कथित आलोचको ने उनकी सश्लेषणात्मक विवेचना का अध्ययन किया होता तो उनकी आलोचना की वह हास्यास्पद स्थिति न हुई होती, जो सबके सामने प्रत्यक्ष है।

महादेवी जी की समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन-दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। उनकी मान्यता है—'किसी मानव समूह को, उसके समस्त परिवेश के साथ तत्वत जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध है उनमे सबसे पूर्ण और मधुर उसका साहित्य ही कहा जायगा। साहित्य मे मनुष्य का असीम, अत अपरि-चित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अन्तर्जगत वाह्य-जगत मे अवतरित होकर निश्चित परिधि तथा सरल स्पष्टता मे बँध जाता है तथा सीमित, अत. चिर परिचय के कारण पुराना लगने वाला वाह्य-जगत अन्तर्जगत के विस्तार मे मुक्त होकर चिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इसी प्रकार हमे सीमा मे असीम की और असीम मे संभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती है। दूसरे शब्दो मे हम कुछ क्षणो मे असख्य अनुभूतियो और विराट ज्ञान के साथ जीवित रहते है, जो स्थिति हमारे शान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे विशेष सार्थकता और सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह मे बनने मिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढती रहती है, परन्तु प्रवाह से भटककर अकेले तट से टकराने और विखर जाने वाली तरग की यात्रा वही वालू-मिट्टी मे समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को, ऐसे एकाकी अत से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह मे मिलाने का सम्बल देता है।'

×

'धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर मे मनुष्य का हृदय किसी उन्नत स्थिति के भी पाषाणीकरण को अभिशाप मानता रहा है। इस स्थिति से बचने के लिए उसने जितने प्रत्यत्न किए है, उनमे साहित्य उसका निरन्तर साक्षी रहा है।'

×

'दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निभ्रॉन्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य-रूप मे अवतरित होकर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है। पर इस स्वेच्छा स्वीकृत अपूर्णता या परिवर्तनशीलता से जीवन और उसके विकास की एकता का सूत्र भग नही होता।'

×

'नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नही, नवीन तरग भगिमा है। देश-विदेश के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य मे नवीन तरंगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नही करती, वरन् उन्ही नवीन तरग-भगिमाओं की अनन्त आवृत्तियो के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति पाती है।'

'इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करे तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनन्त परिवर्तनो की भीड मे भी उसमे एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी जिसके अभाव मे किसी परिवर्तन की स्थिति सम्भव नही रहती। समुद्र की वेला मे जो धरती व्यक्त है उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अपार जलराशि को सँभालती है। समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल मे भी जीवन की ऐसी ही धरती है।'

×

'सत्य निर्मित नही' किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना मे जीवन के रहस्य-मय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरो तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नही है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को सचालित करते है, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यो के सृजन का तो प्रश्न ही

क्या, जब जगत के भौतिक तत्वो की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नही करता कि वह भौतिक तत्वो का स्रष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अग मे उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है, वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति अपने ज्ञान रूप सत्य को भिन्न चेतना खण्डो के लिए सहज सम्भव कर देती है।'

अपने इसी बोध-विचार और जीवन-दर्शन के आधार पर महादेवी जी ने काव्य-कला के विवेचन-विश्लेपण मे यह आर्ष वाक्य लिखा है—'सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।' 'एक अपनी एकता मे असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता मे अनत, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।' इस कथन मे उनकी काव्य सम्बन्धी धारणा स्पष्ट है। व्यक्त अनेकता मे अन्तर्निहित एकता की खोज करने वाले की आस्था सामजस्य और समन्वय पर ही आरुढ रहती है। साहित्यालोचन मे उनका दृष्टिकोण इसी पृष्ठाधार पर सस्थित है। उन्होने लिखा भी है—

'जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलत और लक्ष्यत सामजस्य-वादिनी होती है। साहित्य का आधार कभी आशिक जीवन नही होता, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य मे मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाँही वस्त्र मे दो रंगो के तार, अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रगो से भिन्न एक तीसरे रग की सृष्टि करते है। हमारी मानसिक वृत्तियो की ऐसी सामजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कही सम्भव नही। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है न बाह्य, क्योकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आशिक नही।

मनुष्य के पास बाह्य जगत के समान एक सचेतन अन्तर्जगत भी है, अत. उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामजस्य पर प्रसन्न नही होता, वरन विचार-भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत का सामजस्य बाह्य-जगत मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत का सामंजस्य अन्तर्जगत मे अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।'

साहित्य मे सम्पूर्ण तथा व्यापक जीवन की यह माँग उनकी विवेचना मे अत्यन्त सफलता के साथ प्रतिफलित हुई है। उनके सभी निर्णय-निष्कर्ष इसी

अनुभूत जीवन-दर्शन, आस्था और विश्वास के परिणाम है। जिस प्रकार उनका काव्य जीवन के विराट भाव-बोध को जागृत करता है उसी प्रकार उनकी विवेचना अनुभूत बौद्धिक-चिंतन के उन्मेष को विस्तार देती है। व्यष्टि के अनुभव-चिंतन को समष्टि के साथ सयोजित करने के अन्य अनेक साधनो के साथ उनकी विधायक कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है, क्योंकि साहित्य मे मूर्ति-विधान और सौन्दर्य बोध का माध्यम यही मानस व्यापार हैं।

वस्तुतः भाव, विचार और कल्पना की समन्वित त्रिवेणी से प्रसावित तथा प्रवाहित उनकी समालोचना जीवन-भूमि को सब ओर से ससिक्त और स्निग्ध करती चलती है। उनकी मर्मभेदी, दूरदर्शी दृष्टि के सामने जीवन अपने परिपूर्ण व्यापकत्व और विराटत्व के साथ उपस्थित होकर विवेचना को गहनता और विस्तार के सूत्रो से ग्रथित करता चलता है।

छायावाद के प्रति फैले बहुमुखी भ्रामक विचारों और अबोधता से उद्‌भूत नाना भ्रमों के कुहासे को दूर करने में उनकी विवेचना ने जिस किरण-कला का काम किया है, वह किसी से छिपा नही। श्री नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है—'छायावाद सम्बन्धी सभी आलोचनाओ का उत्तर महादेवी जी को देना पडा। इसीलिए उन्होंने बड़े विस्तार मे छायावाद में प्रकृति, नारी भावना, कल्पना, दु खवाद, स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद सम्बन्धी भ्रमों का उच्छेद करने मे महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियों से अधिक काम किया।' श्री विनय मोहन शर्मा की यह उक्ति भी कि—'छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन', सच है। वास्तव मे छायावादी काव्य-धारा के सौन्दर्य-सवेदन को, उसकी सांस्कृतिक समृद्धि को, तथा उसकी स्थिति की विवेचनात्मक दृढता को हृदय-स्पर्शी बनाकर सर्व-सुलभ स्पष्टता देने के भगीरथ विधान मे महादेवी जी की सफलता सहज ही अनन्य है; यह निर्विवाद है।

विशेषता यह है कि छायावाद की महत्वपूर्ण स्थापना और उसकी विस्तृत विवेचना के साथ उन्होंने उसकी त्रुटियो की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है—'छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक मे ही यह रागात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन मे नहीं, इसी से वह अपूर्ण है।' छायावाद की ऐसी आलोचना शायद ही और किसी ने की हो?

प्रगतिवाद की मौलिक त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए भी उन्होने कवियो को यही सलाह दी है—'अध्ययन मे मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़ कर अपनी सम्पूर्ण सवेदन शक्ति के साथ

जीवन मे घुल-मिल जावे', क्योकि उनका निश्चित विश्वास है—'हमे निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पदनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पारकर कदाचित् फिर चिर-सवेदन रूप सक्रिय भावनाओ मे जीवन के परिमाणु खोजने होगे।'

कहने की आवश्यकता नही कि महादेवी जी की विवेचना मे साहित्य के विश्लेषण के साथ-साथ उसमे जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा का आग्रह सर्वाधिक महत्ता रखता है। इसी से उसमे बौद्धिक तीक्ष्णता के साथ भावात्मक सश्लेषण का स्वर बराबर गूँजता चलता है, जो साहित्य की सार्थकता और उपयोगिता का सबसे प्रौढ और सनातन प्रतीक है। ऐसी जीवनवादी, मानवतावादी समीक्षा का सृजनात्मक प्रभाव साहित्य के शाश्वत सिद्धान्तो की खोज में स्थायी रहता है, इसमे सन्देह नही। डा० नगेन्द्र ने बडे पते की बात कही है—'महादेवी के ये निबध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तो के अमर व्याख्यान है। आज साहित्यक मूल्यो के बव-ण्डर मे भटका हुआ जिज्ञासु इन्हे आलोक-स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।'

साहित्य भावात्मक सामजस्य का प्रथम और अन्तिम सत्य है, इसीलिए उसकी स्थिति मनुष्य के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे उसके हृदय की। स्वाभावत साहित्य का माध्यम स्थूल विधि-निषेध न होकर आन्तरिक सामजस्य ही होता है, तभी वह हृदय की भाँति जीवन के सभी अगो को अपनी नवीन रक्त सचारिणी शक्ति से जीवित तथा स्वस्थ रख सकेगा, अन्यथा नही।

प्रस्तुत पुस्तक मे महादेवी जी के आठ विवेचनात्मक निबध सगृहीत है—(१) साहित्यकार की आस्था (२) काव्य-कला (३) छायावाद (४) रहस्यवाद (५) गीति-काव्य (६) यथार्थ और आदर्श (७) सामयिक समस्या (८) हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या।

इन निबन्धो मे महादेवी जी की व्यापक तथा गहन अनुभूति, समन्वयात्मक चिंतन-मनन और सामजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन का जो उन्मेष उद्घाटित हुआ है, वह जीवन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धो को स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता के साथ विवेचना के स्तर को ऊपर उठाने मे भी सफल है। सिद्धान्तो को धो-माँजकर चमाचम रखने वाले और जीवन मे जग लग जाने देने वाले आलोचको के प्रति उनका कथन कितना मार्मिक है। आज का आलोचक 'मानसिक पूंजीवाद और जीवन का दारिद्रय साथ लाए बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नही आती, क्योकि ऐसी पुकार स्वय उसी के जीवन को विरोधा-त्मक बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह एक अथक विवादैषणा के

अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नही दे सका जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।'

छायावादी काव्य के पूर्व हिन्दी आलोचना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि आलोचक यही निर्णय नही कर पाए थे कि काव्यालोचन की कसौटी स्वयं आलोचक की रुचि से निर्मित हो, अथवा परम्परागत सिद्धान्तो से, जीवन का वहाँ कोई प्रश्न ही नही था। केवल एक ही आदर्श सामने था—कवि करोति काव्यानि, स्वाद जानन्ति पडिता, इसी बल पर आलोचक फूला नही समाता था।

काव्यालोचन के सदर्भ में धर्म, नीति और लोक मगल को स्थान देकर आचार्य शुक्ल ने कुछ उदारता का परिचय दिया, और जीवन की माँग को सीमित रूप मे ही सही, सामने रखा। सीमित इसलिए कि शुक्ल जी जीवन का अर्थ उस जीवन से लगाते थे जो रामचरितमानस मे व्यक्त हुआ है, उसके बाहर जीवन की किसी स्थिति पर उनकी आस्था नही के बराबर थी। किसी भी काव्य पर विचार करते समय वे यह देखना नही भूल पाते थे कि गोस्वामी जी के काव्य से उसकी पुष्टि होती है या नही।

छायावादी कवियो ने और विशेष रूप से महादेवी जी ने काव्यालोचन के सिद्धान्तों को प्रथमबार जीवन के विकासशील सिद्धान्तो के समकक्ष रखकर विवेचना के सूत्रों को केवल सिद्धान्तवादी आलोचको के हाथ से छीनकर कवि के जीवन व्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति कौशल के हाथो मे रख दिया। जनतत्रीय जीवन धारा का साहित्य मे भी अभिषेक हुआ। इस प्रतिक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो समवर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था।

छायावादी स्वच्छन्द भावधारा और रहस्यवादी भावसूक्ष्मता तथा प्रेम के उदात्तीकरण को विदेशी तथा मात्र अभिव्यञ्जना एव केवल काल्पनिक कहने वालो का मुँह बन्द करने के लिए महादेवी जी ने उसे भारतीय काव्य की, जीवन के साथ सतत् विकसित होने वाली वैदिक, पालि और प्राकृत काव्यो की परम्परा से सबद्ध सिद्ध करते हुए उसकी स्थिति को स्वाभाविक और उसकी अभिव्यक्ति को सास्कृतिक महत्ता देने मे जिस सश्लेषणी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह समीक्षा के इतिहास में अकेली है। परवर्ती आलोचको की आलोचना मे इसका प्रभाव और अनुसरण प्रत्यक्ष है।

'गीति-काव्य' पर उनका निबन्ध अपने ढग का प्रथम और प्रामाणिक है। उनकी गीत की यह परिभाषा पाठको और आलोचको के लिए कठहार बन गयी

है—'साधारणत. गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।'

छायावाद युग मे गीतो की प्रधानता का कारण भी उन्होने बताया है—'हिन्दी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमे काव्य के किसी और अग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नही देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए ससार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते है, अपने प्रत्येक कम्पन को अकित करने के लिए उत्सुक है और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल है। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसमे कवि का आदर्श अपने विषय मे कुछ न कह कर ससार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।'

'यथार्थ और आदर्श' निबन्ध का प्रारम्भ ही उनके मन्तव्य को स्पष्ट कर देता है—'सतुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रो मे यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, पर समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढँके वीर है कि जीवन की स्थूलता हमे किसी ओर से भी स्पर्श नही कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणो के समान बिखर जाता है, या ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नही कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामञ्जस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पडता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी है कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते है, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी मे मुख गडाये पडे रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते है।'

यथार्थ और आदर्श की प्रवृत्तियो के माध्यम से प्राय. सम्पूर्ण भारतीय काव्य का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले है, जो दोनों की समन्वयात्मक स्थिति का बोध कराने मे अत्यन्त उपयोगी है—

'आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रगो से तब तक नही भरी जा सकती जब तक उन्हे जीवन के स्पदन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलो का सहारा देना आवश्यक है'।

×

'जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आधार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्ही युगों मे हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वंसात्मक अन्धकार के युगों मे या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रांत करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरो को बाँधते रहे हैं'।

×

'जीवन में वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पदन नही केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नही प्रेतमात्र है।'

×

'सच्चा कलाकार व्यावसायिक कम पर सवेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ के सम्बन्ध मे सतुलित और आदर्श के सम्बन्ध मे व्यापक रह कर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है।

इस प्रकार यथार्थ-आदर्श के सूक्ष्म ऐतिहासिक विवेचन और कलात्मक विश्लेषण के पश्चात् दोनो की सामञ्जस्यपूर्ण जिस स्थिति का उन्होने आकलन और उद्भावन किया है, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास मे नितान्त नवीन होने के साथ सारगर्भित और साहित्य-सृजन के लिए उपादेय भी है। साहित्य की सप्राणता और सचरण के लिए इन दोनों वृत्तियो का सतुलन अनिवार्य है।

'सामयिक समस्या' मे प्रगतिवाद के आन्दोलन द्वारा उत्पन्न साहित्य-समस्या पर व्यापक रूप से विचार करते हुए साहित्य मे विज्ञान, मनोविज्ञान, एव बौद्धिक विकल्पो की स्थितियो और साहित्य में उनके उपयोग की विधियो का विवेचन किया गया है। पूरे निबन्ध के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है कि प्रगति से, चाहे वह मार्क्स से प्रभावित हो, चाहे गाँधी से और चाहे फ़्रायड से, महादेवी जी का कोई विरोध नही, किन्तु प्रगति का वास्तविक रूप वे साहित्य की उस विकासशील प्रवृत्ति मे ही स्वीकार करती है, जो जीवन के स्वाभाविक विकास के साथ सृजन को प्रशस्त करती चलती है।

प्रगति के लिए 'जो मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नही, काव्य मे उसका अक्षरश. अनुवाद भी चाहता है। अत. साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। वह राजनीतिक दलो के समान साहित्यचरो का विभाजन कर अपने पक्ष मे बहुमत और दूसरे पक्ष मे अल्पमत चाहता है।' ऐसी प्रगति के उपासको से उनका विरोध न होना आश्चर्य का ही कारण हो सकता था। किसी दल की सकीर्णता मे बद्ध प्रगति की भावना साहित्य को सार्वजनिक कल्याण के पथ पर अग्रसर नही कर सकती। उसे केवल

ऐसा अपरिणामदर्शी, दलवद और बुद्धिजीवी राजनीतिक वर्ग ही स्वीकार कर सकता है, 'जो जीवन के स्वाभाविक स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामत एक ओर उसका मस्तिष्क विचारो की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रो का सग्रहालय मात्र रह जाता है।'

प्रगति पथियो के लिए महादेवी जी का यह वाक्य सदा स्मरणीय रहेगा—'सफल प्रगति काव्य के लिए अनुभूतियो को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया मे रखना उचित था जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।'

गतिशील भावभूमि से सर्वथा विच्छिन्न करके काव्य को विशुद्ध तर्क-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का परिणाम केवल गतिहीनता ही हो सकती है, जैसे पानी को बर्फ बना देने से। भाव और सहज सवेदनीयता की नितान्त न्यूनता के कारण काव्य-प्रवाह का स्थिर हो जाना ही सम्भव है, आज हम इस सत्य से पूर्णत अवगत हो चुके है। प्रगति के नाम पर वासना के नग्न चित्रो का प्रदर्शन, जीवन के केवल कुत्सित रूपो का चित्रण विकृतियो की चित्रशाला उपस्थित करने मे भले ही कृत-कृत्य हो, किन्तु उसके लिए सच्ची साहित्य-प्रगति का आधार बन सकना कभी किसी प्रकार से सभव नही हो सकता। साहित्य मे किसी भी विचारधारा की सप्राणता का प्रमाण उसका उत्कृष्ट एव जीवन्त सृजन ही होता है, न कि दूसरी विचार-धाराओ को नगण्य बताकर उनके नष्ट करने का प्रयत्न मात्र। विभिन्न साहित्यिक धाराओ को लेकर चलने वाले कटु विवादो की व्यर्थता पर महादेवी जी की धारणा महत्वपूर्ण है—

'विवाद जीवन का चिह्न है और निर्जीवता का भी। लहरे बाहर से विविध किन्तु भीतर से एक रह कर जल की गतिशीलता प्रकट करती है, पर सूखते हुए पक की कठिन पडनेवाली दरारे भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा है। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी देख चुके है। हम राजनीतिक और सामाजिक सगठन करने चले थे और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादो ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान मे तीन भाषाओ की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापो से ग्रसित और दुखद है, क्योकि उनके मूल मे जीवन के ऊपरी सतह की विवेचना नही है, वरन् उसकी अन्तर्निहित एकता का खण्डो मे बिखरकर विकास शून्य हो जाना प्रमाणित करते है। साहित्य

गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह एकता रखता है, जो वाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतत्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वय मिट जाना चाहेगा पर उन्हें वना-वनाकर स्वय वनना उसे स्वीकार न होगा'।

प्रगतिवादी यथार्थ की उत्तेजक आकुलता मे विकृत और अश्लील चित्रो की जो विवृत्ति साहित्य क्षेत्र में हुई उससे महादेवी जी को शिकायत नही, पर वे यथार्थ अभिव्यक्ति की उच्चता का स्मरण दिलाना नही भूलती—'व्यापक अर्थ मे यह भाव (श्लील-अश्लील) जीवन के प्रति सम्भव और असम्भव के पर्याय हो सकते है। जिस भाव, विचार, सकल्प, सकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नही प्रकट होती, वे सव अश्लील की परिधि मे रखे जा सकते है। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है वह अश्लील नही कहा जा सकता। पर यदि राह मे कोई उसी रोगी की पगड़ी उतार कहे कि जव चिकित्सक को पीठ दिखाने मे लज्जा नही आयी तव यहाँ सिर उघड जाने मे क्या हानि है, तो इस कार्य को श्लील नही कहा जा सकेगा। विकृत तथा अश्लील चित्रो के अकन द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपो मे एक मांगलिक आदर्श की स्थापना करने का हो, वह एक ऐसे गोताखोर की तरह हो जो केवल तट पर कीचड़ और घोघो का ढेर लगाने के लिए समुद्र की अतल गहराई मे नही धँसता, वरन् उस मोती को निकाल लाता है, जिससे ससार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओ से भरे समुद्र को रत्नाकर नाम देता है।'

'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' मे मानवीय जीवन की विज्ञान साध्य वाहरी सपर्क-सुलभ समीपता एव निकटता और भीतरी भावात्मक दूरी का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया गया है—'पथ के सहयात्री भी एक दूसरे के समीप होते है और युद्ध भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनो प्रकार के सामीप्य परिणामत. कितने भिन्न है। पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता मे एक दूसरे के बचाने के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उड़ता हुआ बादल और उमडता हुआ वमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जायेगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेगे। जिनके साथ मन शका रहित नही हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग मे मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शकाकुल मन पास आने वालो से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।'

निकटता की स्थिति-मात्र से राष्ट्र को सावधान करते हुए उन्होने अपनी उस सास्कृतिक मन की निकटता एव एकता को जगाने का आग्रह किया है जो, हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय मे सामञ्जस्य की स्थापना से मानव-मात्र की भीतरी एकता का भावन करती चली आ रही है। इस यत्रयुग की कठोर, किन्तु विशाल छाया मे यदि हम सहज मानवीय सवेदना के प्रकाश को विकीर्ण कर सके, तो हमारी सास्कृतिक परम्परा का गौरव तो बढ़ेगा ही, हम भी अपने को उसके सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार प्राप्त कर सकेगे।

वैज्ञानिक युग की निकट की दूरी से बचने के लिए हमे महादेवी जी का यह कथन स्मरण रखना होगा—'जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लघ्य पर्वतो और दुस्तर समुद्रो को पार करने मे वर्षो का समय बिताता था, उस युग मे भी मानवमात्र की एकता के वही वैतालिक रहे है। आज जब विज्ञान ने वर्षो को घटो मे बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यो रहने दे, बुद्धि को बुद्धि का आतक क्यो बनने दे और हृदय को हृदय के विरोध मे क्यो खड़ा होने दे। हम विश्वभर से परिचय की यात्रा मे निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो ले तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर मे अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के बादल उठते रहे, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जायेंगे। अत. आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त मे हमे निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।'

इस कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने साहित्य की जीवन व्यापी विविधता और उसमे प्रतिफलित होने वाले प्राय. सभी महत्वपूर्ण विषयो को लेकर इतने विस्तार और इतनी गहनता से विवेचन किया है कि पाठक के मन मे भाव-विचार, सकल्प-भावना, व्यष्टि-समष्टि, राष्ट्र-परराष्ट्र, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, यथार्थ-आदर्श, सामयिकता-शाश्वता, ज्ञान-विज्ञान, श्लीलता-अश्लीलता, प्रत्यक्ष-परोक्ष, परम्परा-प्रगति, सभ्यता-सस्कृति, रूप-कुरूप, शिव-सौन्दर्य, नूतन-पुरातन, भौतिकता-आध्यात्मिकता, एकता-अनेकता, अतीत-वर्तमान, बाह्य जगत-अन्तर्जगत, बुद्धि-हृदय, भावन-चिंतन, सुख-दुःख, अधिकार-अधिकारी, सिद्धान्त-क्रिया, धर्म-कर्म, कठोर-कोमल, राग-विराग, युद्ध-शान्ति, शोषक-शोषित, नैतिक-अनैतिक, स्वभाव-सस्कार, मूर्त-अमूर्त, ह्रास-विकास, आस्था-अनास्था, देश-काल, नर-नारी, राजनीति-अर्थनीति, नास्तिक-आस्तिक, आत्मा-परमात्मा आदि के विषय मे उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी ृष्टि एवं उनके सामञ्जस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नही रह जाती और वह साहित्य

के विराट स्वरूप से परिचित होकर उसके आवार जीवन और जगत के प्रति अनायास ही सवेदनशील हो उठता है।

अनुभूति के रंगो मे रजित और व्यवस्थित सास्कृतिक चिंतन से चित्रित समालोचना के ये सश्लिष्ट चित्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी स्वय-प्रकाश प्रज्ञा के प्रौढतम प्रतीक है। इस विवेचना पद्धति की चर्चा करते हुए श्री इलाचन्द्र जोशी ने कहा है–'हिन्दी के अन्य आलोचकगण महादेवी जी के साधनात्मक और सहृदयतापूर्ण गहन चिंतन द्वारा प्रसूत इस विवेचना से लाभ उठा सके तो यह हिन्दी के लिए निश्चय ही बडे सौभाग्य की बात होगी।'

अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि महादेवी जी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामञ्जस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यो का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एव सरस-स्पष्ट शैली मे हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन मे प्राण-प्रवेग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने मे भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारो की शक्तिमत्ता, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धान्तो की सुबोध प्रतिपादना और जीवन-दर्शन की व्यापकता से सचालित यह विवेचना साहित्यिक अभिप्रायो के आकलन, अंकन और उद्घाटन मे अद्वितीय है। जीवन की विकासशील संयोजना, सौन्दर्य की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की अनिवार्यता होती है, वह महादेवी जैसे विदग्ध कलाकारो की निजी महत्ता है।

साहित्यिक सुझाव की इसी सात्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर मैने इन विवेचनात्मक निबन्धो के इस सग्रह को, इस पुस्तक के रूप मे हिन्दी-ससार के सामने उपस्थित करने का सक्रिय सकल्प किया है। पुष्पो का स्रष्टा न होकर भी पुष्पार्पण करने का सौभाग्य पुजारी की अपनी ही उपलब्धि कही जायगी। आशा है, साहित्यानुरागियो को इससे एक मानसिक एव हार्दिक तृप्ति मिलेगी और वे अपनी विवेचनात्मक रुचि का सस्कार-परिष्कार करने मे सफल मनोरथ हो सकेंगे। इतिशुभम्

प्रयाग
जनवरी १९६२

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

# साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध

# साहित्यकार की आस्था

● ●

जीवन के गूढ रहस्यो को अगत. व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा सकेतों का आविष्कार किया है वे प्राय अपनी रूढ परिभाषाओ की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरो तक फैल जाते है। जल पृथ्वी पर तट बनाता है, ऊँचे-नीचे कगारों मे बँधता है, पर धरती के नीचे जल जल से, ज्वाला से, शिला-खण्डो से और अनेक धातुओ से अनायास ही मिल जाता है, इनके बीच तट-रेखाओ का प्रश्न नही उठता।

आस्था शब्द भी इसी प्रकार का सकेत मे एक पर सकेतित लक्ष्य मे विविध-रूपात्मक कहा जायगा। आस और स्था, अस्तित्व और स्थिति दोनो का उसमे ऐसा समन्वय है कि धर्म के आस्तिक से लेकर वैज्ञानिक युग के नास्तिक तक सब उसे स्वीकृति देते है।

जहाँ तक आस्था की भावभूमि का प्रश्न है वह जीवन की सहजात चेतना के विकास-क्रम मे ही निर्मित होती चलती है।

हमारे चारो ओर जो प्रत्यक्ष जगत है उसमे सब कुछ निरन्तर परिवर्तित होता, बनता मिटता रहता है। पर अबोध बालक के लिए भी यह शका स्वाभाविक नही कि सूर्य सवेरे लौटेगा या नही।

इस धारणा के पीछे अनन्त युगो के अनुभवजन्य सस्कार है। मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए जो पाथेय लेकर चलता है उसका बहुत सा अश उसे जन्म के साथ उत्तराधिकार मे प्राप्त हो जाता है। शेष की उपलब्धि उसे यात्राक्रम मे अपने अनुभव, कल्पना, चिन्तन आदि से होती रहती है।

इस प्रकार आधुनिक अणुयुग का मानव भी अपने [illegible] के लिए आदिम पूर्वज का आभारी है।

आस्था के सम्बन्ध में भी यही सत्य है—[illegible] और व्याप्ति व्यक्तिगत अनुभवों की उपलब्धि है। [illegible] भौतिक हो चाहे भावात्मक, अकेला नहीं रह सकता, [illegible] साथ होने के कारण ही उसे एक संज्ञा प्राप्त है और [illegible] है। इसी प्रकार कोई भी स्थिति एकाकी नहीं है, क्योंकि [illegible] लिए स्थितियों की समष्टि में आना अनिवार्य हो जाता है। [illegible] होने पर भी सीमित नहीं हो सकेगी वस्तुतः [illegible] दार्शनिक लक्ष्य पर केन्द्रित रागात्मक दृष्टि है। [illegible] रूप और सीमा तक उसका होना अनिवार्य है। [illegible] रंग के अनुसार परिवर्तित जल के समान व्यक्तिगत सीमा में [illegible] रहे, यह स्वाभाविक ही है।

आस्था, जिसका एक अर्थ स्वीकारोक्ति भी है, वस्तुतः [illegible] की स्वीकृति है। इस स्वीकृति के लिए मनुष्य को [illegible] परिचित होना पड़ता है, अनेक परोक्ष और प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर [illegible] दर्शन बनाना और उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

व्यक्तिगत आस्था का किसी सामाजिक रूढ़ि से विरोध हो सकता है, पर विकासगत सामाजिक या व्यापक जीवन-लक्ष्य से नहीं।

'मैं केवल अपने सुख में आस्था रखता हूँ', 'मैं केवल अपने जीने की उपयोगिता में आस्था रखता हूँ' आदि भौतिक तथ्य होने पर भी आस्था के विरोधी हैं। पर 'मैं दिव्य जीवन में आस्था रखता हूँ', 'मैं जीवन की आध्यात्मिक परिणति में आस्था रखता हूँ', आदि भावात्मक स्थिति रखने पर भी आस्था के निकट हैं। कारण स्पष्ट है। पहले तथ्य में समष्टि की अस्वीकृति और दूसरी भावना में उसकी स्वीकृति है।

जीवन की दृष्टि से आस्तिक और नास्तिक दोनों एक ही रेखा के दो छोरों पर रहते हैं। एक जीवन के उदात्तीकरण के लिए अलौकिक साधनों की शोध में लगा रहता है और दूसरा उसी की भौतिक स्थिति में सामजस्य लाने के लिए लौकिक माध्यमों का उपयोग करता है।

देवता एक होने के कारण पूजा के उपकरणों की भिन्नता भी उन्हें लक्ष्यतः एक रखती है।

समष्टि की इकाई होने के कारण साहित्यकार के जीवन दर्शन और आस्था

का निर्माण भी समाज विशेष और युग विशेष मे होता है। पर उसका सृजन-कर्म उसकी आस्था के साथ जैसा अभिन्न और प्रगाढ़ सम्बन्ध रखता है वैसा अन्य व्यक्तियो और उनके व्यवसायो मे नही रहता।

एक लौहकार अच्छी तलवार गढ कर भी मारने मे आस्था नही रखता। एक व्यापारी को, सफलता के लिए सत्य मे आस्था की आवश्यकता नही होती।

पर साहित्यकार का सृजन आस्था की धरती से इतना रस ग्रहण करता है कि उसे अस्वीकार करके वह स्वय अपने निकट असत्य बन जाता है। आस्था किसी अन्य कर्म व्यापार के परिणाम को प्रभावित कर सकती है, परन्तु साहित्य को तो वह स्पन्दित दीप्त जीवन देती है। साहित्य जीवन का अलकार नही है वह स्वय जीवन है। साहित्यकार सृजन के क्षणो में उस जीवन मे जीता है और पाठक पढ़ने के क्षणो मे।

इस प्रकार साहित्य में हम जीवन के अनेक गहरे अपरिचित स्तरो मे, मनोवृत्तियों के अनेक अज्ञात छायालोको मे जीवित होकर अपने जीवन को विस्तार, अनुभूतियो को गहराई और चिन्तन को व्यापकता देकर उसे समष्टि से आत्मीय सम्बन्धो मे जोड़ते है। इस प्रकार एक जीवन मे अनेक जीवन जीने के उल्लास के पीछे यदि कोई गम्भीर विश्वास नही है तो यह बाजीगर का खेल मात्र रह जायगा।

हमारे चिन्तको ने जीवन और जगत की गतिमय परिवर्तनशीलता को सँभालने वाले जिस महान् नियम को ऋत् की सज्ञा दी है आस्था उसी की रागात्मक स्वीकृति है।

अत. जीवन की गतिशीलता से आस्था का कोई विरोध सम्भव नही—वैसे ही जैसे अनेक पथो पर चलनेवालो का क्षितिज से कोई विरोध सम्भव नही।

आस्था मे और विशेषत साहित्यकार की आस्था मे समसामयिक तत्व कितना है और शाश्वत कितना यह प्रश्न भी कुछ कम उलझन नही उत्पन्न करता।

आस्था जीवन क्रम मे निर्मित होती है, अत उसे कोई जडीभूत तत्व मान लेना उचित न होगा।

जब मनुष्य के हृदय और बुद्धि की परिधि परिवार ही था तब उसी के सुसाधन-सरक्षण तक उसकी आस्था सीमित थी। जैसे-जैसे उसके बुद्धि और हृदय ने समाज, ग्राम, नगर, देश आदि के क्रम पारकर विश्व की सत्ता को स्वीकार किया, उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़े, वैसे-वैसे ही उसकी आस्था नये क्षितिजो को अपनाती गयी। व्यक्ति जैसे विश्व तक फैल गया है, वैसे ही उसके सुख-दु खो का विस्तार हुआ है। दु ख भोजन-वस्त्र के प्रत्यक्ष अभाव से लेकर परतन्त्रता, उपेक्षा,

अप्रतिष्ठा आदि की अप्रत्यक्ष भावना तक फैल गया है। सुख शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति से लेकर स्नेह, समता, बन्धुता, आत्मीयता जैसी भावनाओ मे सूक्ष्म व्यापकता पा गया है। आज किसी को भोजन-वस्त्र देना मात्र पर्याप्त नही है, उसे स्नेह और बन्धुता की छाया मे देना होगा। और यह एक की नही विश्व भर की आवश्यकता है।

इस प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जीवन के विकास की अन्य रहस्यमय सूक्ष्म दिशायें भी है।

अत आज के व्यक्ति को अपनी आस्था मे विराट् मानव का कर्तव्य सँभालना पडता है। विज्ञान ने भू-खण्डो को एक दूसरे के इतना निकट पहुँचा दिया है कि यह कर्तव्य हर व्यक्ति को प्राप्त हो गया है। ध्वस और निर्माण दोनो ही के लिए पहले अधिक सख्या की आवश्यकता थी। आज देश विशेष के ध्वस के लिए उद्जन बम ले जाने वाला कोई भी एक व्यक्ति पर्याप्त है। पर इसी प्रकार उसे रोकने के लिए भी कोई एक पर्याप्त हो सकता है। यह एक, समष्टि का कोई भी व्यक्ति हो सकता है। परिणामत समय के आवाहन का उत्तर देने के लिए समष्टि को एक व्यक्ति की तरह तैय्यार रहना पडता है। ऐसी स्थिति मे साहित्यकार का कर्तव्य कितना गुरु हो सकता है इसका अनुमान सहज है।

समसामयिक और शाश्वत परस्पर विरोधी स्थितिया नही है। उनमे 'है' और 'होना चाहिए' का अन्तर मात्र है। अनेक समसामयिक, अतीत बनकर ही शाश्वत का सृजन करते है। एक इतिवृत्त है और दूसरा अनेक इतिवृत्तो के अनुभव सघात से निर्मित भावनात्मक लक्ष्य है। कोई भी व्यापक लक्ष्य स्वय तक पहुँचाने वाले साधनो का विरोध नही करता और साधनो का अस्तित्व समसामयिक परिस्थितियो मे रहता है।

'गगा सीधे समुद्र मे गिरती है' का अर्थ यह नही होता कि उसका मार्ग बाण की तरह सीधा है और उसे कोई टीला, गर्त्त, मोड पार नही करना पडता। तट लक्ष्य होने पर क्या हर लहर से नाव को सघर्ष नही करना होगा ?

मनुष्यता का सर्वांगीण विकास, मनुष्य के जीवन की दु ख दैन्य-रहित गरिमा, शिवता और सौन्दर्य हमारा लक्ष्य है। और इस विराट् शाश्वत का सृजन उस क्षण आरम्भ हुआ होगा जब कि आदिम युग के दोअहेरियो ने एक दूसरे के आघातो को देखकर अस्त्र फेक दिये होगे और एक दूसरे को गले लगा लिया होगा।

जिन युगो मे एक भू-खण्ड दूसरे से परिचित नही था उनमे भी मनुष्य ने वसुधा को कुटुम्ब के रूप मे स्वीकार कर अनदेखे सहयात्रियो के प्रति आस्था व्यक्त की है। तब आज के मगल-ग्रह खोजी वैज्ञानिक युग को आस्था का अभाव क्यो हो ?

आज साहित्यकार की आस्था का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, पर यह [illegible] उसे समसामयिक परिस्थितियों से संघर्ष कर उन्हें कर्तव्योन्मुख करने की [illegible] दे सकती है।

उसे विस्तृत मानव परिवार को ममता देनी है। [illegible] ही नहीं और [illegible] निवासियों को विज्ञान खोज ले तो उन्हें भी उसकी ममता की आवश्यकता [illegible] सकती है। और ममता श्रद्धामय आत्मदान है।

माता जिस प्रकार आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नहीं कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋत के बिना अंकुर को विकास नहीं दे सकती, साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना अपने जीवन को अपनी सृष्टि में अवतार नहीं दे पाता।

यह आस्था सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत पर प्रसार की दृष्टि से सार्वजनिक ही रहेगी।

# काव्य-कला

• •

सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयो को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक् स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से, यह जान लेना बहुत सहज नही। परन्तु शब्द के विस्तार मे कला-सृजन को, पाषाण की मूर्तिमत्ता, रंग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गयी। काव्य मे कला का उत्कर्ष एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका, क्योकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता मे असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता मे अनन्त, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल-सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नही सकता, पर हम अपनी आँख के सामने एक छोटा-सा तिनका भी खड़ा करके, उसे इन्द्रजाल के समान ही अपने लिए लुप्त कर सकते हैं। फिर जब तक हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर एक विशेष स्थिति मे, उस विस्तार के साथ रखकर न देखे तब तक हमारे लिए वह क्षितिजव्यापी विस्तार नही के बराबर है। केवल तिनका ही हमारी दृष्टि की सीमा को सब ओर से घेरकर विराट् बन जायगा। परन्तु उस तृण-विशेष पर ही नही, लता, वृक्ष, खेत, वन आदि सभी खण्डरूपों पर ठहरती हुई हमारी दृष्टि उस विस्तार का ज्ञान करा सकती है। बिना रूपो की सीमा के उस असीम

विस्तार का बोध होना कठिन है और विस्तार की व्यापक पीठिका के अभाव मे उन रूपो की अनेकात्मकता की अनुभूति सम्भव नही। अखण्ड सत्य के साथ हमारी स्थिति भी कुछ ऐसी ही रहती है। उसका जितना अश हम अपनी सीमा से घेर सकते है, उसे ऐसी स्थिति मे रखकर देखना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में रहकर भी सत्य की व्यापकता मे अपनी निश्चित स्थिति बनाये रहे।

व्यक्ति की सीमा मे तो सत्य की ऐसी दोहरी स्थिति सहज ही नही स्वाभाविक भी है, अन्यथा उसे तत्वत ग्रहण करना सम्भव न हो सकेगा। परन्तु, खण्ड मे अखण्ड की इस स्थिति को प्रेषणीय बना लेना दुष्कर नही तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओ की सख्या, लम्बाई-चौडाई, हलका-भारीपन आदि गणित के अको मे बाँधे जा सकते हैं, परन्तु रेखा से परिमाण तक व्याप्त सजीवता का परिचय संख्या, मात्रा या तोल से नही दिया जा सकता। आकार को ठीक नाप-जोख के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना सहज है, जीवन को सम्पूर्ण अतुलनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही कठिन।

सत्य की व्यापकता मे से हम चाहे जिस अश को ग्रहण करे, वह हमारी सीमा मे बँधकर व्यष्टिगत हो ही जाता है और इस स्थिति मे हमारी सीमा के साथ सापेक्ष पर अपनी व्यापकता मे निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रहकर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमे तोलकर ही उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखता है। इतना ही नही उसकी तुला पर, रुचि-वैचित्र्य, सस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासगो की उपस्थिति भी सम्भव है; अतः सत्य के सापेक्ष ही नही, निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध मे भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नही रोकती टोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति मे पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नही, क्योकि सुननेवाला कहाँ कहाँ कहकर उसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि मे बाँध लेने को व्याकुल हो उठेगा। अब यदि वह हमारी ही स्थिति मे, हमारे ही दृष्टिकोण से उसे न देख सके तो वह वस्तु कुछ भिन्न भी लग सकती है और तब विवाद की कभी न टूटने-वाली शृखला मे नित्य नई कडियाँ जुडने लगेगी। बाह्य जीवन मे तो यह समस्या किसी अश तक सरल की भी जा सकती है, परन्तु अन्तर्जगत् मे इसे सुलझा लेना सदा ही कठिन रहा है।

इस सत्य सम्बन्धी उलझन को सुलझाने के लिए जीवन न ठहर सकता है और न इसे छोडकर आगे बढ़ सकता है, अत. वह सुलझाता हुआ चलता है। बाह्य

जीवन मे, राजनीति, समाज-शासन, धर्म आदि दर्शन के समान सत्य का परिचय भर देते चलते है। मनुष्य की हठीली जिज्ञासा किसी ग्रन्थि को पकडकर खोल न जाय, इस भय से उन्होने प्रत्येक ग्रन्थि पर अनुग्रह और दण्ड की ऐसी चिकनाहट लगा दी है, जिससे हाथ फिसल भर जावे। कही महासागर के समान बहुत विस्तार मे उलझे हुए और कही सूत्रो के समान सक्षिप्त रूप मे गुथे हुए, सिद्धान्त कभी सत्य के सग्रहालय जैसे जान पडते है और कभी अस्त्रागार जैसे; कही सत्य की विकलाग मूर्त्तियो का स्मरण करा देते हैं और कही अधूरे रेखाचित्रो का, पर व्यापक स्पन्दित सत्य का अभाव नही दूर कर पाते। मनुष्य के बाह्य जीवन की निर्बलता देखने के लिए वे सहस्राक्ष बनने पर बाध्य है और उसके अन्तर्जगत् के वैभव के लिए धृतराष्ट्र होने पर विवश।

हमारी बुद्धिवृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक अर्द्धवृत्त मे घेर सकती है, परन्तु दूसरा अर्द्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी। हमारे भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्धों के समान है, जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते है और अकेले आधा ससार ही घेर सकते हैं। एक ओर का भूखण्ड दूसरे का पूरक बना रहने के लिए ही उसे अन्तर पर रखकर अपनी दृष्टि का विषय नही बना पाता; परन्तु इससे दोनो मे से किसी की भी स्थिति सदिग्ध नही हो जाती।

हमारी बुद्धि और रागात्मिका वृत्ति के दो अर्द्धवृत्तो से घिरे सत्य के सम्बन्ध मे भी यही सत्य रहेगा। हमारे व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक कार्य सकल्प-विकल्प, कल्पना-स्वप्न, सुख-दु ख आदि की भिन्नवर्णी कडियोवाली शृखला के एक सिरे मे झूलता रहता है। इस शृखला की प्राय सभी कडियो की स्थिति अन्तर्जगत् मे ही सम्भव है। व्यवहारजगत् केवल कार्य से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि कार्य के स्थूल ज्ञान से लेकर उसे जन्म देनेवाले सूक्ष्म विचार तक जानती है और हृदय तज्जनित सुख-दु ख से लेकर स्वप्न-कल्पना तक की अनुभूतियाँ सञ्चित करता है। इस प्रकार बाह्य जीवन की सीमा मे वामन जैसा लगनेवाला कार्य भी हमारे अन्तर्जगत की असीमता मे बढते बढते विराट् हो सकता है।

बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओ का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार मे नही खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है। तट पर एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हम असख्य नयी तरगो को सामने आते और पुरानी लहरों को आगे जाते देखकर नदी से परिचित हो जाते

हैं। वह किस पर्वतीय उद्गम से निकलकर, कहाँ कहाँ वहती हुई किस समुद्र की अगाव तरलता मे विलीन हो जाती है, यह प्रत्यक्ष न होने पर भी हमारी अनुभूति मे नदी पूर्ण है और रहेगी। जब हम कहते है कि हमने एक ओर चाँदनी की धूल जैसी झिलमिलाती वालू और दूसरी ओर दूर हरीतिमा मे तटरेखा वनाती हुई, अथाह नील जल से भरी नदी देखी, तव सुननेवाला कोई प्रचलित नाप-जोख नही माँगता। हमने इतने गज प्रवाह नापा है, इतने सौ लहरे गिनी है, इतने फीट गहराई नापी है, इतने सेर पानी तोला है आदि आदि, नाप-तोल न वताकर भी हम नदी का ठीक परिचय दूसरे के हृदय तक पहुँचा देते है। सुननेवाला उस नदी को ही नही, उसके शाश्वत सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष पाकर एक ऐसे आनन्द की स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ गणित के अंको मे वँधी नाप-जोख के लिए स्थान नही।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रहकर भी एक ही पथ से नही चलते। वुद्धि मे समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ है और अनुभूति मे एकतारता लिये गहराई। ज्ञान के क्षेत्र मे एक छोटी रेखा के नीचे उससे वडी रेखा खीचकर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके असख्य उदाहरण, विज्ञान जीवन की स्थूल सीमा मे और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता मे दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र मे एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई मे उतरकर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते है। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति-विशेष मे अपने विशेष दृष्टि-विन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने से। तीनो ने वस्तुविशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणो से जिन विभिन्न परिस्थितियो मे देखा है, वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओ मे घेर लेगी। इन विभिन्न रेखाओ के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के परिचय के लिए ही इस अनेकता को सँभाले रहती है।

अनुभूति के सम्वन्ध मे यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दु ख को वहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय की अनुभूति मे तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और साधारण मित्र मे उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है; पर जहाँ तक दु ख के सामान्य सवेदन का प्रश्न है, वे तीनो एक ही रेखा पर, निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति मे रहेगे। हाँ, जव उनमे से कोई उस दु ख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकालकर वौद्धिक धरातल पर रख लेगा तव कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा मे जितनी सवल है उतनी वुद्धि नही। हमारे स्वय जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धिवृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रखकर देखती है; अत. व्यष्टिगत सीमा मे उसका सदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियां होगी, हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसी से हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी, दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असंदिग्ध होकर आ सकेगा। तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है, तुमने जिसे काला देखा वह नीला है, तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर है, आदि आदि, कहकर हम दूसरे मे. स्वयं उसी के इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति. अविश्वास उत्पन्न कर सकते है. परन्तु 'तुम्हे जो कॉटा चुभने की पीडा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमने असख्य बार सुनकर भी कोई अपनी पीडा के अस्तित्व मे सन्देह नही करेगा।

जीवन के निश्चित बिन्दुओ को जोडने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि मे सजीवता के रग भरने की क्षमता हृदय मे ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनो का सन्धिपत्र है, जिसके अनुसार बुद्धिवृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रग-रूपो मे चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अत काव्यकला का सत्य जीवन की परिधि मे सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नही है। बाह्य जगत् अनेक रूपात्मक है और उन रूपो का, सुन्दर तथा कुरूप मे एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि मे आनेवाले सौन्दर्य को ही सत्य का माध्यम बनाकर शेष को छोड़ दे? केवल बाह्य रेखाओ और रगो का सामञ्जस्य ही सौन्दर्य कहा जाय तो प्रत्येक भूखण्ड का मानव-समाज ही नही, प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि मे दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामञ्जस्य की परिभाषा बनाई जाय यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते है वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नही। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता, सब कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमे से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते है जिनमे वह पर्वत

के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते है जिनमे वह छोटे तृण के साथ वैठकर ही कृतार्थ वन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त छोटा, वड़ा, लघु, गु , सुन्दर, विरूप, आकर्पक, भयानक, कुछ भी कलाजगत् से वहिप्कृत नही किया जाता। उजले कमलो की चादर जैसी चाँदनी मे मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है, पर अँधेरे के स्तर पर स्तर ओढकर विराट् वनी हुई काली रजनी भी कम मुन्दर नही। फूलो के वोझ से झुक झुक पड़नेवाली लता कोमल है, पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित वालक-सा ताकनेवाला ठूँठ भी कम सुकुमार नही। अविरत जलदान से पृथ्वी को कँपा देनेवाला वादल ऊँचा है, पर एक वूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नही। गुलाव के रग और नवनीत की कोमलता मे ककाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियो मे जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्पक नहीं। वाह्य जीवन की कठोरता, सघर्ष, जय-पराजय सव मूल्यवान् है, पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर वहुत से विवाद सम्भव होते रहे, परन्तु यह भेद मूलत एक दूसरे से वहुत दूरी पर नही ठहरते।

कला शव्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही वोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति मे जितना सीमित है आरम्भ मे उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणो की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि आदि का जो इन्द्रजाल रहता है, उसके अभाव मे निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन-सी सज्ञा पा सकेगी! चिडिया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा, पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक मे वह सहज प्रवृत्ति मात्र है, पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरो को विशेप सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति मे रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है, जो अपनी सीमा मे जीवनव्यापी सुख-दुखो की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण सम्वन्वी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओ मे व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जव हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तव दोनो को जोडनेवाली कड़ियाँ अस्पप्ट होने लगती है।

एक कृति को ललित कहकर चाहे हम जीवन के, दृष्टि से ओझल शिखर पर

प्रतिष्ठित कर आवे और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूलभरे प्रत्यक्ष चरणो पर रख दे, परन्तु उन दोनो ही की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नही। उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है, कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नही। नीचे की पहली सीढी से चढकर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढी पर खडे हो जाते है, तब उन दोनों की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वयं एक एक तो न वे नीची हैं न ऊँची।

व्यावहारिक जगत् मे हमने पहले खाद्य, आच्छादन, छाया आदि की समस्याओ को जिन मूलरूपो मे सुलझाया था उन्हे यदि आज के व्यजन, वस्त्राभूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार मे रखकर देखे, तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेगे। जो बाह्य जगत् मे सहज था वह अन्तर्जगत में भी स्वाभाविक हो गया, अत. उपयोग सम्बन्धी स्थूलता सूक्ष्म होते होते एक रहस्यमय विस्तार मे हमारी दृष्टि से ओझल हो गयी—और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड कर दूसरे को अस्तित्वहीन कहकर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत् का बाह्य जीवन मे पग-पग पर उपयोग होता रहेगा, तब तक कला का सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेष महत्व नही रख सकता। हमारे जीवन मे सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है, वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म मे निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेगे, तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर-बाहर के सभी द्वार खोलने पड़ेगे।

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती है, जो अपने बाह्य रूपो मे एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पडे, परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य मे विशेष अन्तर नही रहता।

हमारी शिराओ मे सचरित जीवन-रस और दूर मिट्टी मे उत्पन्न अन्न के उपयोग मे प्रत्यक्षत कितना अन्तर और अप्रत्यक्षत. कैसी एकता है, यह कहने की आवश्यकता नही। रोगी की व्याधिविशेष के लिए शास्त्र विशेष उपयोगी हो सकता है, परन्तु उसके सिरहाने किसी सहृदय द्वारा रखा हुआ अधखिला गुलाब का फूल भी कम उपयोगी नही। अपनी वेदना मे छटपटाता हुआ वह, उस फूल की धीरे धीरे खिलने और हौले हौले झडनेवाली पखडियो को देख देखकर, कै बार विश्राम की साँस लेता है, किस प्रकार अपने अकेलेपन को भर देता है, कितने भावो की सम-

विषम भूमियो के पार आता जाता है और कैसे चिन्तन के क्षणो मे अपने आपको खोता है, पाता है, यह चाहे हमारे लिए प्रत्यक्ष न हो, परन्तु रोगी के जीवन मे तो सत्य रहेगा ही। चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त औषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी की स्वस्थ इच्छाशक्ति वातावरण का अनिर्वचनीय सामञ्जस्य, सेवा करनेवाले का हृदयगत स्नेह, सद्भाव आदि उपयोग मे अप्रत्यक्ष होने के कारण कम महत्वपूर्ण है, यह कहना अपनी भ्रान्ति का परिचय देना होगा।

जब केवल शारीरिक स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाला उपयोग भी इतना जटिल है, तब महत्वपूर्ण जीवन को अपनी परिधि में घेरनेवाले उपयोग का प्रश्न कितना रहस्यमय हो सकता है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार एक वस्तु के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असख्य उपयोग है, उसी प्रकार एक जीवन को, सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम तक अनन्त परिस्थितियो के बीच से आगे बढना होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अभाव और उनकी पूर्तियो मे इतनी सख्यातीत विविधता है, उसके कार्य-कारण के सम्बन्ध मे इतनी मापहीन व्यापकता है कि उपयोगविशेष की एक रेखा से समस्त जीवन को घेर लेने का प्रयास असफल ही रहेगा। मनुष्य का जीवन इतना एकागी नही कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम या ऐसी ही किसी एक कसौटी पर रखकर सम्पूर्ण रूप से खरा या खोटा कह सके। कपटी से कपटी लुटेरा भी अपने साथियो के साथ जितना सच्चा है उसे देखकर महान् सत्यवादी भी लज्जित हो सकता है। कठोर से कठोर अत्याचारी भी अपनी सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी उसकी तुलना मे न ठहरेगा। उद्धत से उद्धत बर्बर भी अपने माता-पिता के सामने इतना विनत मिलता है, कि उसे नम्र शिष्य की सज्ञा देने की इच्छा होती है। साराश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो,एक स्थिति मे रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव ही नही, अतः एकान्त उपयोग की कल्पना ही सहज है।

जिस चढे हुए धनुष की प्रत्यञ्चा कभी नही उतरती, वह लक्ष्यवेध के काम का नही रहता। जो नेत्र एक भाव में स्थिर है, जो ओठ एक मुद्रा मे जड़ है, जो अग एक स्थिति मे अचल है वे चित्र या मूर्त्ति मे ही अकित रह सकते है। जीवन की गतिशीलता मे विश्वास कर लेने पर, मनुष्य की असख्य परिस्थितियो और विविध आवश्यकताओ मे विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से उपयोग की बहुरूपता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध मे बँधी है। यह सत्य है कि जीवन मे किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और किसी का यदा कदा; परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावो की पूर्त्ति ही पूर्त्ति है और जिनका अनुभव ऐसा नियमित नही वे अभाव ही नही, ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षों की तुलना मे सहानुभूति, स्नेह, सुख-दु:ख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान ठहरते है, इसे कौन नही जानता। अनेक बार व्यक्ति के जीवन में एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है। कारण स्पष्ट है। जब कवि, चित्रकार या सयोग के मार्मिक सत्य ने, उस व्यक्ति को, एक क्षणिक् कोमल मानसिक स्थिति मे, छू पाया, तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के सौन्दर्य-द्वार खोलने मे समर्थ हो सके। ऐसे कुछ क्षण युगों से अधिक मूल्यवान्, अत: उपयोगी मान लिये जायँ तो आश्चर्य की बात नही।

वास्तव मे जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण होते है, वर्ष नहीं। परन्तु वे क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नहीं कहे जा सकते। जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रो के नित्य मनन से कोमल नही बन पाता, वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है, तो वह क्षणिक् प्रश्न शास्त्रमनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यो न माना जावे! एक बाण-विद्ध क्रौञ्च से प्रभावित ऋषि 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वं'—कह कर यदि प्रथम श्लोक और आदिकाव्य की रचना मे समर्थ हो सका, तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को, मनीषी की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्यो न दिया जावे! यदि एक वैज्ञानिक, फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सका, तो उस तुच्छ फल का टूटना, पर्वतो के टूटने से अधिक महत्व पूर्ण क्यों न समझा जावे!

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कसौटी रहे, तो शरीर की कुछ आवश्यकताओ के अतिरिक्त और कुछ भी, महत्व की परिधि मे नही आता। परन्तु हमारे इस निष्कर्ष को जीवन तो स्वीकार करे! बुद्धि ने अपनी सीमा मे स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और हृदय ने अपनी परिधि मे उसे सवेदनीय। जीवन ने इन दोनो को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असख्य विभिन्न और ऊँचे नीचे स्तरो मे विभाजित कर डाला है। जब इनमे से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते हैं, तब हमारा प्रयास अपनी दिशा मे गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण गति नही देता।

जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकांगी नही बना पाती। युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नही, परन्तु उस स्थिति मे भी जीवन भोजन, आच्छादन और अस्त्रशस्त्र के उपयोग मे ही सिमित नही हो जाता। मस्तिष्क और हृदय को क्षण भर विश्राम देने वाले सुख के साधन, प्रियजनो के स्नेह भरे सन्देश, रक्षणीय वस्तुओ के सम्बन्ध मे ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के सुनहले-रुपहले स्वप्न, अडिग साहस

और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि, मिलकर ही तो वीर को वीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते है। पौष्टिक भोजन, झिलमिलाते कवच और चकाचौंध उत्पन्न करने वाले अस्त्रशस्त्र मात्र वीर-हृदय का निर्माण नही करते; उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत् मे छिपे रहते है। यदि हम अन्तर्जगत् के वैभव को अनुपयोगी सिद्ध करना चाहे तो कवच मे यन्त्रचालित काठ के पुतले भी खडे किये जा सकते हैं, क्योकि जीवित मनुष्य की तुलना मे उनकी आवश्यकताएँ नही के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेगे।

उपयोग की ऐसी ही भ्रान्ति पर तो हमारा यन्त्र-युग खडा है। परन्तु ससार ने, हँमने रोने थकने मरने वाले मनुष्य को खोकर जो वीतराग, अथक और अमर देवता पाया है उसने, जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के अतिरिक्त और क्या किया? समाज और राष्ट्र मे मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित; अत उसके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओ मे देखना होगा।

उपयोगिता के प्रश्न के साथ एक कठिनाई और है। जैसे जैसे उपयोग की भूमि ऊँची होती जाती है, वैसे वैसे वह प्रत्यक्षता मे न्यून और व्यापकता मे अधिक होती चलती है। सबसे नीची भूमि जिस अश तक सापेक्ष है सबसे ऊँची उसी अश तक निरपेक्ष। उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के स्वास्थ्य रुचि आदि की अपेक्षा रखता है, परन्तु उससे बना रस, रोगी, स्वस्थ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियो के लिये समान रूप से उपयोगी रहेगा। इसी से उपयोग की प्रत्यक्ष और निम्न भूमि पर जैसी विभिन्नता मिलती है, वैसी उन्नत पर अप्रत्यक्ष भूमि पर सहज नही।

'दूसरे के दु ख से सहानुभूति रखो' यह सिद्धान्त जब व्यावहारिक जीवन मे केवल विधिनिषेध के रूप मे आता है, तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे इसके प्रयोग के रूप विभिन्न रहते है और प्रयोग से छुटकारा देनेवाले तर्क विविध। परन्तु जब यही इतिवृत्त, हमारी भावभूमि पर, हृदय की प्रेरणा बनकर उपस्थित होता है, तब न प्रयोगो मे इतनी विभिन्नता दिखाई देती है और न तर्क की आवश्यकता रहती है। किसी का दु ख जब हमारे हृदय को स्पर्श कर चुका, तब हम उसके और अपने सम्बन्ध को, साधारण लौकिक आदान-प्रदान की तुलना पर तोलने मे असमर्थ ही रहेगे।

यदि हम किसी के दु ख को बँटा लेगे तो दूसरा भी हमारे दुख मे सहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमे स्मरण रहता है और न हम स्मरण करना चाहेगे। इसी से महानतम त्यागो के पीछे विधिनिषेधात्मक नैतिकता के सस्कार चाहे रहे, परन्तु स्वय विधिनिषेध की सतर्क चेतना सम्भव नही रहती। सत्य बोलना उचित

है, इस सिद्धान्त को गणित के नियम के समान रट-रटकर जो सत्य बोलने की शक्ति पाता है, वह सच्चा सत्यवादी नही। सत्यवादी तो उसे कहेंगे, जिसमे सत्य बोलना, विधि-निषेध की सीमा पार कर स्वभाव ही बन चुका है। उपयोग की इस सूक्ष्म, पर व्यापक भूमि पर सत्य में जैसी एकता है, स्थूल और सकीर्ण धरातल पर वैसी ही अनेकता। इसी कारण ससार-भर के दार्शनिक, धर्म-सस्थापक, कवि आदि के सत्य मे, देशकाल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत एकता मिलती है।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत, सम-विषम प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियो मे समान रूप से व्याप्त है और रहेगा।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओ का सम्बन्ध है, वे उपयोग की उस उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती हैं, जहाँ उपयोग सामान्य रह सके। करुण रागिनी, उपयोग की जिस भूमि पर है, वहाँ वह प्रत्येक श्रोता के हृदय मे एक करुण भाव जागृत करके ही सफल हो सकेगी, हर्ष या उल्लास का नही। व्यक्ति के सस्कार परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी मात्राओ मे न्यूनाधिक्य हो सकता है; परन्तु उसके उपयोग में इतनी विभिन्नता सम्भव नही कि एक मे हर्ष का सचार हो और दूसरे मे विषाद का उद्रेक।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार है—एक तो बाह्य अनुशासनो का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे, अन्तर्जगत् मे ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना, जिससे सामञ्जस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तर्जगत् मे प्रेरणा बनने वाले साधनो की स्थिति, उस बीज के समान है, जिसे मिट्टी को, रग-रूप-रस आदि मे व्यक्त होने की सुविधा देने के लिए, स्वय उसके अन्धकार मे समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नही जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते है। वास्तव मे कलाकार तो जीवन का ऐसा सगी है, जो अपनी आत्म-कहानी मे, हृदय की कथा कहता है और स्वय चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नही, किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो ससार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्रमधुर अनुभूति, दूसरे तक पहुँचाने मे समर्थ है। अपने अनुभवो की गहराई मे, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है, उसे

दूसरे के लिए सवेदनीय वनाकर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है, पर मैं आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढग ऐसा है कि हम उसके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सव कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते है—दूसरे शब्दों मे हम विना खोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य में अपने आपको पाते है। दूसरे के वौद्धिक निष्कर्ष तो हमे अपने भीतर उनका प्रतिविम्व खोजने पर वाध्य करते है, परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशो के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते है, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते हैं, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, वदल जाना सम्भव नही। मनु की जीवन-स्मृतियो मे अनर्थ की सम्भावना है, पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही रहेगा। इसी से कलाकारो के मठ नही निर्मित हुए, महन्त नही प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नही स्थापित हुए और सम्राट् नही अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता मे ही सवका ऐसा अपना वन गया कि समय समय पर, धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचने के लिए, उससे परिचय-पत्र माँगना पडा।

कवि मे दार्शनिक को खोजना वहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्वन्ध है, वे दोनो एक दूसरे के अधिक निकट है अवश्य; पर साधन और प्रयोगो की दृष्टि से उनका एक होना सहज नही। दार्शनिक वुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म विन्दु तक पहुचाकर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही वौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत् का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नही, भाव की गहराई मे डूवकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नही। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। वुद्धि, अन्तर का वोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर सकेत करता है। परिणामत चिन्तन की विभिन्न रेखाओ का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। साख्य जिस रेखा पर वढकर लक्ष्य की प्राप्ति करता है, वह वेदान्त को अगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचना है, उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य मे वुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न वौद्धिक तर्कप्रणाली है और न सूक्ष्म विन्दु तक पहुँचानेवाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अत कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।

दर्शन मे, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य मे अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म विन्दु पर विश्राम कर सकता है, परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को, डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनो का मूल अन्तर न जानकर ही हम किसी भी कलाकार मे बुद्धि की एक रूप, एक दिशावाली रेखा ढूँढने का प्रयास करते है और असफल होने पर खीझ उठते है। इसका यह अर्थ नही कि दर्शन और कवि की स्थिति मे विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या, धर्म, नीतिआदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नही ठहरता। यह समस्या तो तव उत्पन्न होती है जव वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकागी, शुष्क और वौद्धिक अनुवाद मात्र वनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जव अनुभूतियो से रूप, कल्पना से रग और भावजगत् से सौन्दर्य पाकर साकार होता है, तव उसके सत्य मे जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क-शृखला नही। ऐसी स्थिति मे उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के विना ही, अपने ज्ञान को कला के सिहासन पर अभिषिक्त कर दिया, तो वह विकलाग मूर्त्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढती है, अत सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघलाकर तर्कसूत्र मे परिणत कर लेना, उसका लक्ष्य नही हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि मे समान रूप से व्याप्त जीवन के, हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि की सख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है। अत कलाकार के जीवन-दर्शन मे हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते है। जो सम-विषम परिस्थितियो की भीड मे नही मिल जाता, सरल-कठिन सघर्षो के मेले मे नही खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखो की छाया मे नही छिप जाता, वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत् के दर्शन मे उतना ही अन्तर रहेगा, जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रग-रूपो से वसे हुए आकाश मे मिलता है।

काव्यकी परिधिमे वाह्य और अन्तर्जगत् दोनो आ जानेके कारण, अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदो को जन्म देते रहे है। केवल वाह्य-जगत् की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त

हो, यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं। यथार्थ और आदर्श दोनों को यदि चरम सीमा पर रखकर देखा जाय, तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त मे बिखर जायगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओ मे बँध जायगा। ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन मे ही कठिन हो जाती है, फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध मे क्या कहा जावे!

काव्य मे गोचर जगत् तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत् मे व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नहीं।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर, उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान-सा अनायास, पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है, जो ग्रहण शक्ति की अनुपस्थिति मे अपना शब्दगुण नही व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस सस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा मे ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देनेवाला सौन्दर्यबोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी, करण (इन्द्रिय) के अभाव या अपूर्णता मे, कभी उनका ग्रहण सम्भव नही होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहनेवाले युग के सामने यही निश्चत तर्कक्रम से स्वतन्त्र ज्ञान रहा।

यह ज्ञान व्यक्तिसामान्य नही, यह कहकर हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योकि हमारा प्रत्यक्ष जगत्-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नही। विज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नही, नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की सापेक्षता नही छोड़ता। व्यक्तिगत रुचि, सस्कार, पूर्वार्जित ज्ञान, ज्ञान-करणो की पूर्णता, अपूर्णता, अभाव आदि मिलकर स्थूल जगत् के ज्ञान को इतनी विविधता देते रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्त्व से ज्ञान का महत्त्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते है। जो ऊँचा सुनता या जो स्टेथेस्कोप की सहायता से फेफडो का अस्फुट शब्द मात्र सुनता है, वे दोनो हमारे स्वर-सामञ्जस्य के सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष नही दे सकते। पर जो आहट की ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक, सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरो मे सामञ्जस्य लाने की साधना भी कर चुका है, वही इस दिशा मे हमारा प्रमाण है।

समाज, नीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नही, सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध मे भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियो को प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है। अत अध्यात्म के सम्बन्ध मे ही ऐसा तर्कवाद क्यो

महत्त्व रखेगा ! फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विच्छिन्न भी नहीं, जितना समझा जाता है। साधारणत. तो प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अंश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इस ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त नि.स्तब्धता के साथ आँधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता मे भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियो की सीमाएँ पार कर लेने के लिए विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा बहुत कुछ बच जाता है, जो कार्य-कारण से नहीं बाँधा जा सकता, स्थूलता के एकान्त उपासक के पास भी बहुत कुछ शेष रह जाता है, जो उपयोग की कसौटी पर नही परखा जा सकता। और यदि केवल सख्या ही महत्त्व रखती हो, तो ससार के सब कोनो मे ऐसे व्यक्तियो की स्थिति सम्भव हो सकी है, जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते रहे।

अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है, वह तो स्थूल और गोचर जगत मे भी सामान्य नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले, यह स्वाभाविक है. परन्तु सबके अन्तर्जगत् मे अनुभूति एक सी स्थिति नहीं पा सकती। अपने सस्कार, रुचि, के अनुसार, कोई फूल से तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा, कोई उदासीन दर्शक मात्र रह जायगा। स्थूल जगत् से सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित कर सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को कठोर कर लिया है, उसकी उँगलियाँ अगारे पर पड कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नही उत्पन्न करेगी; पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड गया है, उसे छाले का तीव्र मर्मानुभव करना पडेगा। जिसने काँटो पर लेटने का अभ्यास कर लिया है, उसके शरीर मे अनेक काँटो का स्पर्श तीव्र व्यथा नही उत्पन्न करता; पर जो चलते चलते अचानक काँटे पर पैर रख देता है, उसके लिए एक काँटा ही तीव्र दुखानुभूति का कारण बन जाता है।

परन्तु इन सब खण्डश. अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् मे एक ऐसा व्यापक, अखण्ड और सवेदनात्मक धरातल भी है, जिस पर सारी विविधताएँ ठहर सकती है। काव्य इसी को स्पर्श कर संवेदनीयता प्राप्त करता है। इसी कारण जिन सुखदुखो की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तीव्र अनुभूति नही देती, उन्ही की काव्य-स्थिति से साक्षात् कर हम अस्थिर हो उठते है।

व्यापक अर्थ मे तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अग या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नही खोल देता, तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नही। इतना ही नही किसी कर्म के सौन्दर्य और सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसी से मनुष्य ऐसे कर्मो को आलोक-स्तम्भ वना वनाकर जीवन-पथ मे स्थापित करता रहा है।

सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामञ्जस्य की ओर इगित करता है, विरूपता भी अपने विरोघ के लिए उसी की ओर सकेत करती है; पर दोनो के सकेत मे अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुडा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-वोव से भी जुडा है; पर विरूप, व्यापक सामञ्जस्य का विरोवी होने के कारण, हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नही रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है, जो अनन्त जलराशि मे एक लहर का दूसरी लहर से होता है; पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है, जैसा पानी मे फेंके हुये पत्थर और उससे उठी लहर मे सहज है। सौन्दर्य चिरपरिचय मे भी नवीन है, पर विरूपता अति परिचय मे नितान्त सावारण वन जाती है; इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही, अन्तहीन काव्यकथा मे नये परिच्छेद जोडती रही है।

आधुनिक युग मे कलाकार की सीमाये जानने के लिये जीवन-व्यापी वातावरण की विपमताओ से परिचित होना अपेक्षित रहेगा।

हमारी सामाजिक परिस्थिति मे अभी तक प्रतिक्रियात्मक ध्वस-युग ही चल रहा है। उसके सम्वन्ध मे ऐसा कोई स्वस्थ और पूर्ण चित्र अंकित नही किया जा सका, जिसे दृष्टि का केन्द्र वनाकर निर्माण का क्रम आरम्भ किया जा सकता। इस दिशा मे हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुविवा के अनुसार ही तोडने-फोडने का कार्य करते चलते हैं; अत. कही चट्टान पर सुनार की हथौडी का हल्का स्पर्श होता है और कही राख के ढेर पर लोहार की गहरी चोट। क्या सस्कृति, क्या आदर्श, सव मे हमारी शक्तियो का विक्षिप्त जैसा प्रयोग है, इसी से जो टूट जाता है, वह हमारी ही आखो की किरकिरी वनने के लिए वायुमडल मे मँडराने लगता है और जो हमारे प्रहार से नही विखरता, वह विषम तथा विरूप वनकर हमारे ही पैरो को आहत और गति को कुण्ठित करता रहता है। निर्माण की दिशा मे किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव मे व्यक्तिगत प्रयास, अराजकता के आकस्मिक उदाहरणो से अविक महत्व नही पाते।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारो मे जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है, वह हमारे समाज के लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक बिन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति-विह्वलता ने उसे एक प्रकार से असामाजिक प्राणी की स्थिति मे डाल दिया है।

प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष सत्य ही नही, अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है; उसका स्वप्न वर्तमान ही नहीं, अनागत को भी रूपरेखा मे बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नही, सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी व्यक्तिगत और अनेक रूप अभिव्यक्तियाँ दूसरो तक पहुँचकर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने मे समर्थ है।

कलाकार के निर्माण मे जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिये जीवन की विविधता आवश्यक होगी। जब समाज उसके किसी भी स्वप्न का मूल्य नही आँकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नही करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल मे फेककर रूठे बालक के समान क्षोभ प्रकट कर देता है और महान, समाज की उपस्थिति ही भूलाने लगता है। हमारी कला क्षेत्र मे जो एक उच्छृंखल गति है, उसके मूल मे निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक, विवश क्षोभ की अस्थिरता ही मिलेगी।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त। एक चल ही नही सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर से दौड़ लगा रहा है। गर्म और ठण्डे जल से भरे पात्रो की निकटता जैसे उनका तापमान एक-सा कर देती है, उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति, उन्हें एक-सी निर्जीवता देती रहती है। आज तो बाह्य और आन्तरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थिति मे पहुँचा दिया है, जहाँ रूढिग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और रीतिकालीन प्रवृत्तियो की चचल क्रीडा ही गतिशीलता है। इतना ही नहीं, इस स्वर्ग के खँडहर का द्वारपाल अर्थ बन गया है। कलाकार यदि धर्म के क्षेत्र में प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गगायमुनी काम की अम्बारी मे जाना होगा, जो उसकी निर्धनता मे सम्भव नही।

हमारी सस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया था जो जीवन से अधिक मृत्यु मे दृढ होता गया। क्या काव्य, क्या मूर्ति, क्या चित्र सब की यथार्थ रेखाओ और स्थूल रूपो में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब ध्वस के असंख्य स्तरो के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया, तब धर्म के निर्जीव ककाल मे हमे मृत्यु का ठडा स्पर्श मिलने लगा।

शरीर को चलाने वाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नही होता,

परन्तु उसके अभाव मे अचल शरीर का गल गल कर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा। समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया, यह तो हम न जान सके, परन्तु व्यावहारिक धर्म की विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रही। ऐसी स्थिति मे काव्य तथा कलाओ की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी। निर्माण-युग मे जो कलासृष्टि अमृत की सजीवनी देकर ही सफल हो सकती थी, वही पतन-युग मे मदिरा की उत्तेजना मात्र बनकर विकासशील मानी गयी। मदिरा का उपयोग तो स्वय को भुलाने के लिए है, स्मरण करने के लिए नही और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना मे ही सम्भव है। परिणामत: कलाएँ और काव्य जैसे जैसे हममे विक्षिप्त की चेष्टाएँ भरने लगे, वैसे वैसे हम विकास-पथ पर लक्ष्यभ्रष्ट होते गये।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिए जिस अध्यात्म का आह्वान किया, काव्य ने सौन्दर्य-काया मे उसी की प्राणप्रतिष्ठा कर दी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रुढि को स्वीकार नही किया, परन्तु सक्रिय विरोध के साधनो का अभाव-सा रहा।

कुछ ने सम्प्रदायो की सकीर्णता के बाहर रहकर, आदर्श-चरित्रो को नवीन रूपरेखा मे ढाला और इस प्रकार पुरानी सास्कृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को, व्यक्तिगत साधना के उस धरातल पर स्थापित कर दिया, जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरूप एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीठिका भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नही किया; परन्तु उनके स्थान मे किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह अस्वीकृति एक उच्छृखल विरोध प्रदर्शन मात्र रह गयी। नास्तिकता उसी दशा मे सृजनात्मक विकास दे सकती है, जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उसका सम्बल है, वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नही रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।

धर्म ने यदि अपने आपको कूप के समान पत्थरो से बाँध लिया है तो राजनीति

ने धरती के ढाल पर पडे पानी के समान अनेक धाराओ मे विभक्त होकर शक्ति को बिखरा डाला है।

पिछले पच्चीस वर्षो मे विश्व के राजनीतिक जीवन मे जो जो आदर्श उपस्थित किये गये उनमे से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नही मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीज्म और फासिज्म, अध्यात्म-प्रधान गाँधीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डिब्बे मे ठसाठस भरे उन यात्रियो जैसे हो रहे है, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खडे रहने का अवकाश और लडने-झगडने मे ही मनोरजन के साधन पा सकते है। इनमे से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचार-धाराओ को भी शताब्दियाँ तो दूर रही, अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नही मिल सके। एक की सीमाएँ स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने लिए स्थान बनाने लगती है और इस प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्पर विरोधिनी शक्तियो का मेल मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न-भिन्न नही। वास्तव मे हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुत्री होने के साथ साथ धर्म और पूँजी की पोष्य पुत्री भी तो है; अत दोनो ओर के गुण-अवगुण उसे उत्तराधिकार मे मिलते रहे है। उसकी छाया मे धार्मिक विरोध भी पनप सके और आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विकास पाते रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक धरातल पर भी एक सैनिक-सगठन अपेक्षित था और सैनिक-सगठन की कुछ अपनी सीमाएँ रहेगी ही। सेना मे सब वीर और जय के विश्वासी ही रहे, ऐसी सम्भावना सत्य नही हो सकती। पर जो व्यक्ति, स्वार्थ या परार्थ के लिए, विवशता या अन्तर की प्रेरणा से, यथार्थ की असुविधा या आदर्श की चेतना के कारण, सेना की परिधि मे आ गये, उन सभी को बाह्य वेश-भूषा और गति की दृष्टि से एक-सा रहना पडेगा। इस प्रकार सैनिक-सगठन मे बाह्य एकता का जो महत्व है, वह आन्तरिक विशेषता का नही, और यह त्रुटि हमारी राष्ट्रीयता मे भी अनजाने ही, अपना स्थान बनाने लगी।

यह कुछ सयोग की ही बात नही कि इस युग मे कोई महान कलाकार राजनीति की कठिन रेखा के भीतर स्वच्छन्दता की साँस न ले सका। जहाँ तक हमारी कविता और कलाओ का प्रश्न है, वे अनाथालय के जीवो के समान सब द्वारो पर अपना अनाथपन गाने को स्वतन्त्र रही; परन्तु हर द्वार पर उनके गीत के लिए स्वर-ताल निर्दिष्ट और विषय निश्चित थे। जो नीति ने सुनना चाहा, वह समाज को नही भाया और जो समाज को रुचिकर हुआ, वह राष्ट्रीयता की स्वीकृति न पा सका।

ऐसी स्थिति मे कलाकार यदि नवीन प्रेरणाओ को, जीवन की व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित कर सकता तो उसका लक्ष्य स्पष्ट और पथ परिष्कृत हो जाता; परन्तु हमारे समाज की छिन्न-भिन्नता ने यह कार्य सहज नही रहने दिया। इस विपम मानव-समष्टि मे, सौ मे चोरानबे मनुष्य तो जड और निर्धन श्रमजीवी है, जिनकी स्थिति का एकमात्र उपयोग शेष छ के लिए सुविधाएँ जुटाना है और शेष छ. मे, अकर्मण्य धनजीवी, उच्च बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी श्रमिक आदि इस प्रकार एकत्र है कि एक की विकृति से दूसरा गलता-छीजता रहता है।

केवल धनजीवियो मे, किसी जाति की स्वस्थ विशेषताओ और व्यापक गुणो को खोजना व्यर्थ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है, जो जितना अधिक स्थान घेरता है, उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे जैसे तीव्र होता है वैसे वैसे जीवन के सकट का विज्ञापन बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च बनने की आकाक्षा दूसरी ओर अभाव की शिलाओ से दबकर टूट जाता है, उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी, उच्चता-जनित गर्व और सुविधाओ के दृढ साँचे मे पथराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को इस विराट् पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का अधिकार है, उसने धनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज की सकीर्णता के साथ ही नव जागरण को स्वीकृति दी है। अत. एक शरीर मे दो प्रेतात्माओ के समान, उसके जीवन मे दो भिन्न प्रवृत्तियाँ उछल-कूद मचाती रहती है। विषमताओ से उत्पन्न और सकीर्णता से पोषित स्वभाव को, इस युग की विशेषताओ ने ऐसा रूप दे दिया है, जिसमे पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुजीभूत।

विज्ञान के चरम विकास ने हमारी आधुनिकता को एकागी बुद्धिवाद मे इस तरह सीमित किया है कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामत: एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पूर्ण सरल भावनाओ से अधिक सारवती जान पडे तो आश्चर्य ही क्या है। इस ज्ञान-व्यवसायी युग मे बिना स्थायी पूजी के ही सिद्धान्तो का व्यापार सहज हो गया है, अत न अब हमे किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पडता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्ति-प्रधान है कि प्राय. वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती है और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते है।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के वैभव मे देखने का न बुद्धिवादी को अवकाश है न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रखकर

देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूलतत्वो से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त मे उसका भारी पर अज्ञानात्मक ज्ञान उसी के जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे छोटी-सी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओ के अनुसार वह ससार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी धरती की अनभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते रहने के लिए ही उनके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते है।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग मे अधिकाश तो मानसिक हीनता की भावना मे ही पलते और बढते है। उनका बाह्य जीवन ही, समुद्र पार के कतरे-ब्योते आच्छादनो से अपनी नग्नता नही छिपाये है, अन्तर्जगत को भी वही से लोहार की धौंकनी जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पगु से पगु स्वप्न भी विदेशी पख लगा लेने पर स्वर्ग का सन्देश वाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से विरूप आदर्श भी पश्चिमीय साँचे मे ढलकर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नही पाता। उनका मूल्यहीन से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी सस्कृति की छाया का स्पर्श करते ही पारसो का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका दरिद्र से दरिद्र विचार भी देशी परिधान मे विदेशी पेवन्द लगाकर समस्त विचार-जगत का एकछत्र सम्राट स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियो मे सस्कृति की रेखाएँ टूटी हुई और जीवन का चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है, उस विशाल मानवसमूह की कथा कुछ दूसरी ही है। बुद्धिजीवियो से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय बीता होगा, इसका अनुमान, बिन्दु बिन्दु से समुद्र बने हुए उसके अज्ञान और तिल तिल करके पहाड बने हुए उसके अभावो से लगाया जा सकता है। आज उसकी जडता की खाई इतनी गहरी और चौडी हो गयी है कि बुद्धजीवी उस ओर झाँकने के विचार मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की बात है।

साधारणत. शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक दूसरे की गति के अवरोधक है, इसी से प्राय विचारो की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक एक न एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक स्पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार बनाये रखना नही भूलती। इसके विपरीत, श्रम पूरा भार डाल कर ही जीवन को अपना परिचय देता है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता को सब ओर से नही

घेरता। प्राय: बुद्धि-व्यवसाय जितनी शीघ्रता से जीवनीशक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम में नही। इसी से जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धिव्यवसायी का कुछ शिथिल और अस्तव्यस्त मिलना जितना सम्भव है श्रमिक का ृढ और व्यवस्थित रहना उतना ही निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नही देता, जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योकि श्रमिक के श्रम के साथ उसकी आत्मा का बिक जाना सम्भाव्य ही है; परन्तु बुद्धि विक्रेता की तुला पर उसकी आत्मा का चढ जाना अनिवार्य रहता है।

श्रम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सव देशो मे सव युगो के सन्देश-वाहक और साधक उसे महत्त्व दे सके है। अनेक तो जीवन के आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन बनाये रहे। इस प्रकार जहाँ कही जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है, वहाँ श्रम की किसी न किसी रूप मे स्थिति आवश्यक रहती है।

केवल श्रम ही श्रम के भार और विश्राम देने वाले साधनो के नितान्त अभाव ने हमारे श्रमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। यह स्वाभाविक भी था। जिस मिट्टी से घर वनाकर हम आँधी, पानी, धूप, अन्धड आदि से अपनी रक्षा करते है, वही जव अपनी निश्चित स्थिति छोड़कर हमारे ऊपर ढह पडती है, तव वज्रपात से कम सहारक नही होती। इस मानव-समष्टि मे ज्ञान के अभाव ने रूढियो को अतल गहराई दे दी है, यह मिथ्या नही और अर्थ-वैषम्य ने इसकी दयनीयता को असीम वना डाला है, यह सत्य है, परन्तु सव कुछ कह-सुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रम का यह उपासक, केवल बुद्धि-व्यापारी से अधिक स्वाभाविक मनुष्य भी है और जातीय गुणों का, उससे अधिक विश्वसनीय रक्षक भी। इतना ही नही, युगो से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार पाने वाली, नृत्य, गीत चित्र आदि कलाओ के मूलरूप भी वह सँजोये है और उपयोगी शिल्पो की विविध व्यावहारिकता भी वह सँभाले है। जीवन के सघर्ष मे ठहरने की वह जितनी क्षमता रखता है उतनी किसी बुद्धिवादी मे सम्भव नही। वास्तव मे उसके पारस-प्रसाद के लिए बुद्धिजीवी ही विभीषण वन गया, अन्यथा उसके जीवन मे, विकृतियो की इतनी विखरी सेना का प्रवेश, सहज न हो पाता।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियो के विभिन्न स्तरो मे उत्पन्न हुए और वही पले है। अत अपने वर्ग के सस्कारो का अशभागी और गुण-अवगुणो का उत्तराधिकारी होना, उनके लिए स्वाभाविक ही रहेगा। उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विषमता का ज्ञान, वहुत विस्तार से सचित किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा मे सुख-दु खो को वहुत तीव्रता से अनुभव किया। विभिन्न

सस्कारो की धूप-छाया, विविवता भरी भावभूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओं ने मिलकर उनके जीवन को एक सीमित स्थिति दे दी थी। परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वातावरण मे सार्थकता देने के लिए समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—सजीव, निश्चित पर व्यापक। जिस समाज मे उनकी स्वाभाविक स्थिति थी, वह विषमताओं मे बिखर चुका था, उसमे ऊँचे वर्ग के अहकार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न मे उतरने पर उन्हे आभिजात्य के खो जाने का भय था। फलत. उन्होंने अपने एकाकीपन के शून्य को, अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से, उस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अकुरित होते ही ठिठुर चला।

बीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य बीजो की समष्टि नही छोड़ता। वह तो नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक स्थिति स्वीकार करता है। यदि वही बीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके, अपनी असाधारणता बनाये रखने के लिए वायु पर उड़ता ही रहे तो ससार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो बैठेगा।

कवि, कलाकार साहित्यकार सब, समष्टिगत विशेषताओ को नव नव रूपो में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक खडे जान पडते है, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को, जीवन की व्यापकता मे साधारण न बना सके तो आश्चर्य की वस्तुमात्र रह जायँगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर एक परिचय भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योकि वह धूमकेतु-सा आकस्मिक और विचित्र नही, किन्तु ध्रुव-सा निश्चित और परिचित रह कर ही हमे मार्ग दिखाने मे समर्थ है।

आज कलाकार समष्टि का महत्व समझता है; परन्तु इस बोध के साथ भी उसके सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नही है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवो की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है, उतनी अपने देवताओ की नही। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नही , क्योकि वह सिद्धान्तो को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है। जीवन के स्पन्दन से शून्य होकर सिद्धान्त जब धर्म, समाज, नीति आदि की सकीर्ण पीठिका पर प्रतिष्ठित हो जाते है, तब वे व्यवसाय-वृत्ति को जैसी स्वीकृति देते है वैसी जीवन के विकास को नही दे पाते। साहित्य, काव्य आदि के धरातल पर भी इस नियम का अपवाद नही मिलेगा।

नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धिवैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने,

ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तों को माँज धोकर रात-दिन चमकाती रहती है, पर जीवन मे जग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते है और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते है। इस वनजारा-वृत्ति से उन दोनो पक्षो को लाभ होने की सम्भावना कम रहती है। काव्य मे तो जीवन का निरन्तर स्पर्श ओर उसकी मार्मिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है; अत यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है; अत· जीवन के स्पन्दन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओ से उसमे कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।

काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नही; उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सबको अपने स्पर्श-मात्र से सोना कर दे। एक पागल से चित्रकार को जब फटा कागज, टूटी तूलिका और धब्बे डाल देने वाला रग मिल जाता है, तब क्षण भर में वह निर्जीव कागज जीवित हो उठता है, रंगो मे कल्पना साकार हो उठती है, रेखाओ मे जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं, रोते है, ओर उसे मानवीय सम्बन्धो मे बाँध रखना चाहते है। एक निरर्थक झनझन से पूर्ण टूटे एकतारे के जर्जर तारो मे, गायक की कुशल उँगलियाँ उलझ जाने पर, उन्ही तारो मे हमारे सारे सुख-दुख, रो-हँस उठते हे, सारी सीमा के सकीर्ण बन्धन छिन्न भिन्न होकर बह जाते हैं ओर हम किसी अज्ञात सौन्दर्य-लोक मे पहुँचकर चकित से, मुग्ध से उसे सदा सुनते रहने की इच्छा करने लगते हैं। निरन्तर पैरो से ठुकराये जानेवाले कुरूप पाषाण से शिल्पी के कुशल हाथ का स्पर्श होते ही, वही पाषाण मोम के समान अपना आकार बदल डालता है, उसमे हमारे सौंदर्य के, शक्ति के आदर्श जाग उठते है और तब उसी को हम देवता के समान प्रतिष्ठित कर चन्दन फूल से पूजकर अपने को धन्य मानते है। जल का एक रग भिन्न भिन्न रगवाले पात्रो मे जैसे अपना रग बदल लेता है उसी प्रकार चिरन्तन सुख-दुख हमारे हृदयो की सीमा और रग के अनुसार बनकर प्रकट होते है। हमे अपने हृदयो की सारी अभिव्यक्तियो को एक ही रूप देने को आकुल न होना चाहिए, क्योकि यह प्रयत्न हमे किसी भी दिशा मे सफल न होने देगा।

मनुष्य स्वय एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्दचित्र मात्र है जिससे उसका व्यक्तित्व और ससार के साथ उसकी एकता जानी जाती है। वह एक ससार मे रहता है और उसने अपने भीतर एक और इस ससार से अधिक सुन्दर, अधिक सुकुमार ससार बसा रखा है। मनुष्य मे जड़

और चेतन दोनो एक प्रगाढ आलिगन मे आवद्ध रहते है। उसका वाह्याकार पार्थिव और सीमित ससार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का—एक उसको विश्व से वॉध रखता है तो दूसरा उसे कल्पना-द्वारा उडाता ही रहना चाहता है।

जड चेतन के विना विकास शून्य है और चेतन जड के विना आकार-शून्य। इन दोनो की क्रिया और प्रतिक्रिया ही जीवन है। चाहे कविता किसी भाषा मे हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे उसमे पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनो के अविछिन्न सम्वन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियो मे होने पर भी हम हृदय से एक ही है, यही कारण है कि दो मनुष्यो के देश, काल समाज आदि मे समुद्र के तटो जैसा अन्तर होने पर भी वे एक दूसरे के हृदयगत भावो को समझने मे समर्थ हो सकते है। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। जिस प्रकार वीणा के तारो के भिन्न स्वरो मे एक प्रकार की एकता होती है,जो उन्हे एक साथ मिलकर चलने की और अपने साम्य से सगीत की सृष्टि करने की क्षमता देती है, उसी प्रकार मानव हृदयो मे एकता छिपी हुई है। यदि ऐसा न होता तो विश्व का सगीत ही वेसुरा हो जाता।

फिर भी न जाने क्यो हम लोग अलग अलग छोटे छोटे दायरे वनाकर उन्ही मे वैठे वैठे सोचा करते है कि दूसरा हमारी पहुँच से वाहर है। एक कवि विश्व का या मानव का वाह्य-सौदर्य देखकर सव कुछ भूल जाता है, सोचता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर अलग एक सगीत की सृष्टि करेगा, दूसरा विश्व की आन्तरिक वेदनावहुल-सुषमा पर मतवाला हो उठता है, समझता है उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सवसे अलग एक निराले सगीत की सृष्टि कर लेगा। परन्तु वे नही सोचते कि उन दोनो के स्वर मिलकर ही विश्व-सगीत की सृष्टि कर रहे है।

मनुष्य चाहे प्रकृति के जड उपादानो का सघात विशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अगभूत, परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नही है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अको के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सके। जड द्रव्य से अन्य पशु तथा वनस्पति-जगत के समान ही उसका शरीर नियमित और विकसित होता है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी स्थिति वाह्य जगत् मे ही रहेगी और प्राणिशास्त्र के सामान्य नियमो से सचालित होगी। यह सत्य है कि प्रकृति मे जीवन के जितने रूप देखे जाते है, मनुष्य उनमे इतना विशिष्ट जान पडता है कि सृजन की स्थूल समष्टि मे भी उसका निश्चित स्थान खोज लेना कठिन हो जाता है, परन्तु इस कठिनाई के मूल मे तत्त्वत कोई अन्तर न होकर विकास-क्रम मे मनुष्य का अन्यतम और अन्तिम होना ही है।

यदि सबके लिए सामान्य यह बाह्य ससार ही, उसके जीवन को पूर्ण कर देता तो शेष प्राणिजगत के समान वह बहुत-सी जटिल समस्याओ से बच जाता। परन्तु ऐसा हो नही सका। उसके शरीर में जैसा भौतिक जगत का चरम विकास है, उसकी चेतना भी उसी प्रकार प्राणिजगत् की चेतना का उत्कृष्टतम रूप है।

मनुष्य का निरन्तर परिष्कृत होता चलने वाला यह मानसिक जगत् वस्तु-जगत् के सघर्ष से प्रभावित होता है, उसके सकेतो मे अपनी अभिव्यक्ति चाहता है, परन्तु उसके बन्धनो को पूर्णता मे स्वीकार नही करना चाहता। अत. जो कुछ प्रत्यक्ष है, केवल उतना ही मनुष्य नही कहा जा सकता—उसके साथ साथ उसका जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन है उसे भी समझना होगा, प्रत्यक्ष जगत् मे उसका भी मूल्याकन करना होगा, अन्यथा मनुष्य के सम्बन्ध मे हमारा सारा ज्ञान अपूर्ण और सारे समाधान अधूरे रहेगे।

मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निकट बाह्य जगत् की सब वस्तुओ का उपयोग भी दोहरा है। ओस की बूँदो से जडे गुलाब के दल जब हमारे हृदय मे सुप्त, एक अव्यक्त सौंदर्य और सुख की भावना को जागृत कर देते है, उनकी क्षणिक सुषमा हमारे मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री देती है, तब हमारे निकट उनका जो उपयोग है वह उस समय के उपयोग से सर्वथा भिन्न होगा, जब हम उन्हे मिश्री मे गलाकर और गुलकन्द नाम देकर औषध के रूप मे ग्रहण करते है। समय, आवश्यकता और वस्तु के अनुसार इस दोहरे उपयोग की मात्रा तथा तज्जनित रूप कभी कभी इतने भिन्न हो जाते है कि हमारा अन्तर्जगत् बहिर्जगत् का पूरक होकर भी उसका विरोधी जान पडता है और हमारा बाह्य जीवन मानसिक से सचालित होकर भी उसके सर्वथा विपरीत।

मनुष्य के अन्तर्जगत का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत होते चलना है, परन्तु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि वह निश्चित रूप से केवल बुद्धि या भावना का सूत्र पकडने मे असमर्थ ही रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप मे बुद्धि या भावपक्ष की प्रधानता ही हमारी इस धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन मे हो सका है और हृदय का जीवन मे। एक मे हम बाह्य जगत् के सस्कारो को अपने भीतर लाकर उनका निरीक्षण परीक्षण करते है और दूसरे मे अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियो को बाहर लाकर उनका मूल्य आँकते है।

चिन्तन मे हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियो को समेटकर किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अपना बौद्धिक समाधान करते है, अत कभी कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही

नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन मे बाधक होकर। दार्शनिक में हम बुद्धि-वृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास पाते है जो उसे जैसे जैसे ससार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढाता चलता है वैसे वैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक के निरन्तर अन्वेषण के मूल मे भी यही वृत्ति मिलेगी, अन्तर केवल इतना ही है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपो की उलझन है, उन रूपो मे छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नही। अपनी अपनी खोज मे दोनो ही वीतराग है, क्योकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जड़द्रव्य के विविध रूपो मे रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक व्यक्त के रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसी के प्रत्यक्ष विस्तार की सीमा तक, परन्तु दोनो ही दिशाओ मे बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पडता है, इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन का वह सम्पूर्ण चित्र जो मनुष्य और शेष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से अनुप्राणित है नहीं दे सकते।

मनुष्य के ज्ञान की कुछ शाखाएँ, दर्शन, विज्ञान आदि के समान अपनी दिशा मे व्यापक न रहकर जीवन के किसी अग विशेष से सम्बन्ध रखती है, अत. जहाँ वे आगे बढते है वहाँ ये जीवन की परिवर्तित परिस्थितियो के साथ परिवर्तित हो कर अपनी तात्कालिक नवीनता मे ही विकसित कहलाती हैं।

मनुष्य एक ओर अपने मानसिक जगत् की दुरूहता को स्पष्ट करता चलता है, दूसरी ओर अपने बाह्य ससार की समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करता है। उसके समाजशास्त्र, राजनीति आदि उसकी बाह्य स्थिति की व्याख्या है, उसका विज्ञान प्रकृति के मूलतत्वो से उसके सघर्ष का इतिहास है, उसका दर्शन उसके तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है और उसका साहित्य उसके उस समग्र जीवन का सजीव चित्र है, जो राजनीति से शासित, समाजशास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्यापक हो चुका है।

साहित्य मे मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाही वस्त्र मे दो रगो के तार, जो अपनी अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रगों से भिन्न एक तीसरे रग की सृष्टि करते है। हमारी मानसिक वृत्तियो की ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कही सम्भव नही। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है और न बाह्य क्योकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आशिक नही।

मनुष्य के बाह्य जीवन मे जो कुछ ध्वस और निर्माण हुआ है, उसकी शक्ति

और दुर्बलता की जो परीक्षाएँ हुई हैं, जीवन-सघर्ष मे उसे जितनी हार-जीत मिली है, केवल उसी का ऐतिहासिक विवरण दे देना, साहित्य का लक्ष्य नही। उसे यह भी खोजना पडता है कि इस ध्वस के पीछे कितनी विरोधी मनोवृत्तियाँ काम कर रही थी, निर्माण मनुष्य की किस सृजनात्मक प्रेरणा का परिणाम था, उसकी शक्ति के पीछे कौन-सा आत्मबल अक्षय था, दुर्बलता उसके किस अभाव से प्रसूत थी, हार उसकी किस निराशा की सज्ञा थी और जीत मे उसकी कौन सी कल्पना साकार हो गयी।

जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरो मे अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनो ही रूपो की एकता लेकर साहित्य मे व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् मे मनुष्य जिन घटनाओ को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक है, जीवन नही, उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नही कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओ को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा मे बँधा साहित्य रूप मे एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युगविशेष से सम्बद्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए सवेदनीय बन जाता है।

साहित्य की विस्तृत रगशाला मे हम कविता को कौन-सा स्थान दे, यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। वास्तव मे जीवन मे कविता का वही महत्व है जो कठोर भित्तियो से घिरे कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायु-मण्डल से मिला देनेवाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आकाश-खण्ड को अपने भीतर बन्दी कर लेने के लिए अपनी परिधि मे नही बाँधता, प्रत्युत हमे उस सीमा-रेखा पर खडे होकर क्षितिज तक दृष्टि-प्रसार की सुविधा देने के लिए; उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि मे बाँधती है। साहित्य के अन्य अग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उनमे सामञ्जस्य की ऐसी परिणति होती है न आयास-हीनता। जीवन की विविधता मे सामञ्जस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओ मे उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरो की अनेकरूपता या रेखाओ की विषमता के सामञ्जस्य पर स्थित है।

कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है, परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी, जिसमे तर्क-वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधले

अतीत भूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक, जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है, वह परिणाम मे कम नही, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएँ लेकर आता है, जिनके समाधान के लिए नयी दिशाएँ खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओ को एक विशिष्ट रूपरेखा देती है। मूलतत्व न जीवन के कभी बदले है और न काव्य के, कारण वे उस शाश्वत चेतना से सम्बद्ध है, जिसके तत्त्वत एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।

अतीत युगो के जितने सचित ज्ञानकोष के हम अधिकारी है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कविता मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओ की सदैव अग्रजा रही है। यह क्रम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है, क्योकि जीवन मे चिन्तन के शैशव मे ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य बाह्य ससार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही, उसके साथ एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, यह उसके शिशु जीवन से ही स्पष्ट हो जायगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फल के विकास से करे, जो अपनी सरसता मे सदा ही परिमित है, तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा, जो अपने सौरभ मे अपरिमित होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी परिपक्वता मे पूर्ण है और दूसरा अपने विस्तार मे।

यह सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान की समष्टि मे कविता को और विशेषत उसके बाह्य रूप को इतना महत्त्व मनुष्य की भावुकता से ही नही, उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी मिला था। जिस युग मे मानवजाति के समस्त ज्ञान को एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ मे सचरण करते हुए ही रहना पडता था, उस युग मे उसकी प्रत्येक शाखा को अपने अस्तित्व के लिए छन्दबद्धता के कारण स्मृतिसुलभ पद्य का ही आश्रय लेना पडा। इसके अतिरिक्त शुष्क ज्ञान ने, अधिक ग्राह्य होने के लिए भी, पद्य की रूपरेखा का वह बन्धन स्वीकार किया, जिसमे विशेष ध्वनि और प्रवाह से युक्त होकर शब्द अधिक प्रभावशाली हो जाते है। कहना व्यर्थ होगा कि काव्य के उस धुधले आदिम काल से लेकर जब आवश्यकता वश ही मनुष्य प्राय अपने बौद्धिक निरूपणो को भी काव्य-काया मे प्रतिष्ठित करने के लिए बाध्य हो जाता था, आज गद्य के विकास-काल तक ऐसी कविता का अभाव नही रहा।

साधारणतः हमारे विचार विज्ञापक होते हैं और भाव संक्रामक, इसी से एक की सफलता पहले मननीय होने में है और दूसरे की पहले संवेदनीय होने में। कविता अपनी संवेदनीयता में ही चिरन्तन है, चाहे युग-विशेष के स्पर्श से उसकी बाह्य रूपरेखा में कितना ही अन्तर क्यों न आ जावे। और यह संवेदनीयता भाव पक्ष ही में अक्षय है।

# छायावाद

० ०

अपने मूल्य को बढाने के लिए दूसरो का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस जागरणयुग को अधिक महत्त्व दिया होता, जिसकी उग्र वाणी ने पहले-पहल एक स्थायी बवडर से उसके लक्ष्य का नाम पूछा, जिसकी पैनी दृष्टि ने पहले बढकर विकृति के अक्षरो मे प्रकृति की भाग्य-लिपि पढ़ी और जिसकी धीर गति ने सर्वप्रथम नवीन पथ के काँटे तोडे।

परिवर्तन को सम्भव करने का श्रेय, राजनीति, समाज, धर्म आदि से सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थितियो को भी देना होगा, परन्तु उस जागरण-काव्य के वैतालिको मे यदि सक्रिय प्रेरणा के स्थान मे आज की विवादैषणा होती तो सम्भवत अब तक हम इसी उलझन मे पडे रहते कि नायिकाओ की प्रशस्ति वशस्थ मे गाई जावे या ऋग्वेद की ऋचाएँ सवैया मे उतारी जावे। विवाद का साधन से साध्य बन जाना बहुत स्वाभाविक होता है और साध्य बनकर वह हमारी बौद्धिक प्रेरणाओ और मानसिक प्रवृत्तियो का कोई और क्रियात्मक उपसहार असम्भव कर देता है; इसी से क्रिया के अकालक्षम आह्वान के अवसर पर हम विवाद की क्षमता नही रखते।

उस जागरण-युग मे बहुत विस्तार से फैले हुए आदर्श और सारत. सक्षिप्त किये हुए यथार्थ के पीछे जो पीठिका रही, वह अनेकरूपी परिस्थितियो से बनी और भिन्नवर्णी परिवर्तनो से रगी थी।

एक दीर्घकाल से कवि के लिए, सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना एक व्यापक उलट-फेर के बिना सम्भव ही नही था, जो समय से सहज हो गया।

शासन के रंगमच पर नई शक्ति का आविर्भाव होते ही काव्य के केन्द्रो का बदलना क्यों सम्भव हो गया, इसे हम जानते ही है, परन्तु ज्ञातव्य की पुनरावृत्ति भी अज्ञान की पुनरावृत्ति नही होती। यह तो स्पष्ट ही है कि नवागत शासक-सत्ता के दृष्टिकोण मे धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वन्द्वी बनाना चाहता है न सजग शत्रु। विरोध में दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं। यदि विपक्ष सबल है तो जय के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और षड्-यन्त्र रचता रहेगा। इसके अतिरिक्त व्यवसाय के लिए सख्या भी विशेष महत्त्व रखती है; क्योकि सम्पन्न से दरिद्र तक को घेर लेने की शक्ति ही व्यापारिक सफलता का मापदण्ड है। चतुर से चतुर व्यापारी भी केवल सम्राटो से व्यापार कर अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकता। अत. नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हमारी देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी सस्कृति के प्रति हमारे मन मे ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आँगन मे न बुला लाना कठिन हो गया। एक सस्कृति जो पाँच सौ वर्षो में न कर सकी, उसे दूसरी ने डेढ सौ वर्षो मे कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है, इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख ले।

हमारे बाह्य अन्धानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ क्षोभ है न खिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिचित पर विस्मृत मित्र की भूमिका मे आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरन्तर सघर्ष से हम इतने द्वेष-जर्जर और क्लांत हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म भी भाले की नोक पर न आकर इन्जेक्शन की महीन सुइयो मे आया, जिसका पता परिणाम मे ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओ की राख में से रोष की चिनगारी कुरेदकर, हमने सघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही, तब राख के साथ चिनगारी भी उड गयी।

इस प्रकार तात्कालिक रक्षा और निरन्तर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामन्त-वर्ग का महत्व बाढ़ के जल के समान स्वय ही घट गया। इतना ही नही, वह वर्ग नवीन शासकसत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चित करने मे व्यस्त हो गया। ऐसी दशा मे कवि किनके इगित पर व्यायाम करता और कविता किस आशा पर दरबार मे नृत्य करती? परिवर्तनों के उस समारोह मे काव्य, ऐश्वर्य की कठिन रेखा पार कर जीवन की सरल व्यापकता मे पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को, अर्थ ही नही धर्मकेन्द्रों से भी

इतना विमुख कर दिया कि आज कवि का सन्त होना सम्भाव्य माना जाता है, पर सन्त में कवित्व अतीत की कथामात्र।

राजनीति मे उलझी और शासकसत्ता की ओर निरन्तर सतर्क दृष्टि को जब कुछ अवकाश मिला, तब वह धर्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म के क्षेत्र मे नवीन प्रेरणाओ का अभाव नही रहा, परन्तु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म-प्रधान होने के कारण वे किसी न किसी प्रकार राजनीति की परिधि मे आती रही और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रही। अन्त मे बाह्य विरोध और आन्तरिक रूढ़ि-प्रियता ने धर्म को ऐसी स्थिति मे पहुँचा दिया, जहाँ वह काव्य को नयी स्फूर्ति देने में असमर्थ हो गया।

बदली राजनीतिक परिस्थितियो मे धर्म और समाज के क्षेत्रो मे सुधारकों का जो आविर्भाव हुआ है, उसे ध्यान मे रखकर ही हम खड़ी बोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओ का मूल्य आँक सकेंगे; क्योंकि उन सब की मूलप्रवृत्तियाँ एक है, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हों।

शून्य में व्याप्त स्वरो को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देनेवाली वीणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूप-रेखा मे स्पष्ट किया, वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। यदि वह युग सुधार का सहचर न होकर कला का सहोदर होता, तो सम्भवतः उसके आदर्श-वाद मे बोलनेवाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड़ परम्परा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वातावरण में मँडराती हुई विषमताओ के कारण वह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओ पर उसने विश्राम ही नही किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य मे जीवन के परिचायक माने जावे तो वह युग बहुत सजीव है और यदि विषय की विविधता काव्य की समृद्धि का मापदण्ड हो सके तो वह युग बहुत सम्पन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रान्तीय भाषाओ की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भाषा का जो प्रश्न आज सुलझाया जा रहा है, वह हमे खड़ी बोली के उन साहसी कवियो का अनायास ही स्मरण करा देता है, जिन्होने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की धात्री देशी भाषाओ का अनादर न करते हुए भी, साहित्यिक दृष्टि से भाषा की अनेकता मे एकता का प्रश्न हल किया था।

काव्य की भाषा बदलना सहज नही होता और वह भी ऐसे समय जब पूर्व-गामी भाषा अपने माधुर्य मे अजेय हो, क्योकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दो मे काव्य

की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है, दूसरे उत्कृष्टता के अभाव मे प्राचीन का अभ्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छन्द तो भाषा के सौन्दर्य की सीमाएँ हैं, अत भापा-विशेप से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असम्भव हो जाता है। वे प्राय. दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नही कर पाते, इसी से या तो उसे अपने वन्धनो के अनुरूप काट-छाँटकर वेडौल कर देते है या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओ को, कही दूर तक फैलाकर और कही सकीर्ण कर अपने नाद-सौन्दर्य-सम्वन्वी लक्ष्य ही से वहुत दूर पहुँच जाते है।

तद्‌भव और अपभ्रश शब्दो के स्थान मे शुद्ध सस्कृत शब्दो को प्रधानता देने-वाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छन्द चुने, जो सस्कृतकाव्य मे उन शब्दो का भार ही नही सँभाल चुके थे, नाद-सौन्दर्य की कसौटी पर भी परखे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस काव्य-युग के पास जैसी चित्रशाला है, उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविवता कौतूहल का आधार वनती है। उसमे पौराणिक गाथाएँ बोलती है और सावारण दृष्टान्त-कथाएँ मुखर है। अतीत का गौरव गाता है और वर्त्तमान विकृतियो के क्रन्दन का स्वर मँडराता है। कृपक, श्रमजीवी आदि का श्रम निमन्त्रण देता है और आर्त्तनारी की व्यथा पुकारती है। शापमुक्त पापाणी के समान परम्परागत जडता से छूटी हुई प्रकृति सवको अपने जीवित होने की सूचना देने को भटकती है और भारतीयता से प्रभावित जातीयता उदात्त अनुदात्त स्वरो मे अलख जगाती है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नही है। तव तक एक ओर तो उस सस्कृति के प्रति, हमारी भ्रातृभावना विकसित नही हुई थी, जिसके साथ हमारा सघर्ष दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकसत्ता की नीतिमत्ता का ऐसा परिचय नही मिला था, जिससे हम उसके प्रति तीव्र असन्तोप का अनुभव करते। भारतेन्दु-युग मे भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे हुए है। ऐसी स्थिति मे शासक-सत्ता की प्रशस्तियाँ मिलना भी अस्वाभाविक नही कहा जा सकता; परन्तु इस प्रवृत्ति को वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा लेते है, जो अर्थ से विपरीत है।

नया पथ ढूँढ़ लेनेवाले प्रपात के समान उग्र और सावन-सम्पन्न उस युग को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क यथार्थ और निश्चित आदर्श की छाया मे वह सौन्दर्ययुग कैसे उत्पन्न हो गया, जिसकी कथा सुरसा और पवनकुमार की कथा वन गयी। उत्तर उस युग के अकगणित के सिद्धान्त पर वढनेवाले यथार्थ और रेखा गणित के अनुसार निश्चित विन्दुओ को जोड़ने के लिये

फैलनेवाले आदर्श मे मिलेगा। धर्म की विकृति से अंदर आदर्श रूढ़ि, [illegible] पर ठहरा, जहाँ वह पत्थर की रेखाओं के समान नि[illegible] मे स्थायी होने लगा और समाज की विषमता से सजग यथार्थ ने ऐसा [illegible] कि [illegible]-वृत्ति ही उसका अलकार हो गया।

आदर्श यदि 'यह करो, वह न करो' से शास्त्र की पक्तियाँ दोहराता है, तो यथार्थ 'यह वैसा है, वह ऐसा नही' से इतिहास के पृष्ठ पलटता है। रीतिकालीन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न होने के कारण उसने उनकी त्रुटियाँ [illegible], पर उसके वैभव को अनदेखा कर दिया, इसी से वह उस सौन्दर्य से तादात्म्य न कर सका, जो सब युगो के लिए सामान्य और सब कलाओ का प्राण है।

रीति-काल की सौन्दर्य-भावना स्थूल और यथार्थ शृगारी थी, परन्तु उक्तियों मे चमत्कार की विविधता, अलकारो मे कल्पना की रगीनी और भाषा मे मधुरता का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी सकीर्णता की ओर किसी की दृष्टि का पहुँचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्थूल को गन्धच्युत करने के लिए, जब कवि उपदेश-प्रवण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया, तब उसका प्रयास स्वय उसी को थकाने लगा।

कला के क्षेत्र मे जो यह जानता है कि स्वप्न झूठे नही होते, सौन्दर्य पुराना नही होता, वही चिरन्तन सत्य की चिर नवीन प्रतिमाओ का निर्माण कर सकता है और निरपेक्ष आदर्श को असख्य सापेक्ष रूपो में साकार कर सकता है। कला का उत्कृष्ट निर्माण द्वेष के पखो पर नही चलता, अस्त्रो की झनझनाहट मे नही बोलता और युद्ध के आँगन मे नही प्रतिष्ठित होता। किसी रेखा को छोटी और अस्पष्ट सिद्ध करने के लिए जब हम उसके समानान्तर पर दूसरी बड़ी और स्पष्ट रेखा खींच देते हैं तब हमारे उस निर्माण मे कला के निर्माण की कुछ तुलना की जा सकती है। कलाकार निर्माण देकर ध्वस का प्रश्न सुलझाता है, ध्वस देकर निर्माण का नही; इसी से जब किसी परम्परा का ध्वस उसकी दृष्टि का केन्द्र बन जाता है तब उसमे कला-सृष्टि के उपयुक्त सयम का अभाव हो जाता है।

एक सौन्दर्य के अनेक रूपो के प्रति कलाकार का वही दृष्टिकोण रहेगा, जो एक ही देवता की अनेक पूर्ण और अपूर्ण, अखण्ड और खण्डित मूर्तियो के प्रति उपासक का होता है। जो खण्डित है, विकलाग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नही, फलत: पूजा के योग्य भी नही माना जाता; पर उपासक उसके स्थान मे पूर्ण और अखण्ड की प्रतिष्ठा करके उसे जल मे प्रवाहित कर आता है, चरणपीठ नही बना लेता।

कलाकार भी सौन्दर्य की खण्डित और विकलांग प्रतिमाओ को समय के

प्रवाह मे छोडकर उनके स्थान मे पूर्ण और अखण्ड को प्रतिष्ठित करता चलता है। सौन्दर्य के मन्दिर मे ऐसा कुछ नही है जो पैरों से कुचला जा सके। जिस युग मे कलाकारो की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौन्दर्य-प्रतिमा मे अपने आपको साकार करके आगत युगो के लिए नही छोड जाता !

परिस्थितियो की विपमता ने हमारे जागरण-युग को, पिछले सौन्दर्य-वोध की सकीर्णता की ओर इतना जागरूक रखा कि उसकी सुकुमार कल्पना और रंगीन स्वप्नों को इतिवृत्तात्मकता की वर्दी पर आदर्श के कवच पहनकर जीवन-सग्राम के लिए परेड करनी पड़ी और जिस दिन वे अपनी चुभनेवाली वेशभूपा फेंककर विद्रोही वनने लगे, उसी दिन एक ऐसे युग का आरम्भ हुआ जिसमे वे जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती वन वैठे और अपनी पिछली दासता का प्रतिशोध लेने लगे।

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सम्वन्धरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही वालक है, जिसके जन्म का रहस्य भूतकाल मे ही ढूंढा जा सकता है। हमारे छाया-वाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है। मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वछन्द घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र वन्धनो का आविष्कार कर डालता है और फिर वन्धनो से ऊवकर उनको तोडने मे अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव मे छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के वन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के वाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द मे चित्रित उन मानव-अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।

उन छायाचित्रो को वनाने के लिए और भी कुशल चितेरो की आवश्यकता होती है; कारण, उन चित्रो का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नही। यदि वे मानव-हृदय मे छिपी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग चढाकर न वनाये जायें तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगे या नही, इसमे कुछ ही सदेह है।

प्रकाश-रेखाओ के मार्ग मे विखरी हुई वदलियो के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरें लेनेवाली जल-राशि मे कही छाया और कही आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियो के अनुसार भिन्नवर्णी हो उठी है।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्पवृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड आया है। परिवर्तनो के कोलाहल मे काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्य वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रो से वैभव की चकाचौध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत सकीर्णताओ के प्रति असहिष्णु बना दिया।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख दु खो को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध मे प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप मे चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दु ख मे प्रकृति उदास और सुख मे पुलकित जान पडती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि मे भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपो मे प्रकट एक महाप्राण बन गयी, अत अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओ का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर है।

किन्तु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् मे परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की सज्ञा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलत नवीन नही है, क्योकि इसका कही प्रकट और कही छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त-रेखा तक पाते है। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-पद्धति, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि उसकी सस्कृति से प्रसूत होते है। परन्तु सस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है, क्योकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र

होती है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश-विदेश के जलवायु मे विकसित जाति-विशेष के अन्तर्जगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगो मे भी अस्पष्ट और सीमा मे भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। यह सत्य है कि सस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है, परन्तु मूल तत्वों का वदल जाना, तब तक सम्भव नही होता, जब तक उस जाति के पैरो के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारो ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमण्डल ही न हटा लिया जावे।

जहाँ तक इतिहास की किरणे नही पहुँच पाती, उसी सुदूर अतीत मे जो जाति इस देश मे आकर वस गयी थी, जहाँ न बर्फ के तूफान आते थे, न रेत के बवडर, न आकाश निरन्तर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल भर भूमि और पल भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से सघर्ष होता था, न हार, उस जाति की सस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती है। सुजला, सफला, शस्यश्यामला पृथ्वी के अक मे, मलय-समीर के झोको मे झूलते हुए, मुस्कराती नदियो की तरग-भगिमा मे गति मिलाकर, उन्मुक्त आकाशचारी विहगो के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना और भावना को विस्तार दिया, जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियो की अभिव्यजना की उसके सस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल मे भी वे अकुरित होने की प्रतीक्षा मे धूल मे दबे हुए बीज के समान छिपे रहे, कभी नष्ट नही हुए।

वास्तव मे उस प्राचीन जीवन ने मनुष्य को, प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करने की, उसके व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की, उसकी समष्टि मे रहस्यानुभूति की, सभी सुविधाएँ सहज ही दे डाली। हम वीर पुत्रो और पशुओ की याचना से भरी वेद-ऋचाओ मे जो इतिवृत्त पाते है, वही उषा, मरुत आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सोन्दर्यानुभूति मे बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौन्दर्यबोध उस सर्ववाद का अग्रदूत बन जाता है, जिसका अकुर पुरुष-सूक्त मे, विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक सृष्टि-सम्बन्धी ऋचाओ के गम्भीर प्रश्नो मे मिलती है, जो उपनिषदो के ज्ञानसमुद्र मे मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के 'तत्त्वमसि', 'सर्व खल्विद ब्रह्म', 'सोऽहम्' आदि ने उस युग के चिन्तन को कितनी विविधता दी है, यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्त्वचिंतन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के

प्रति वीतराग बनाकर निष्क्रियता बढाई और दूसरी ओर अनधिकारियो द्वारा, प्रयोगरूप सिद्धान्तो को सत्य बन जाने दिया, जिससे रहस्यवाद की सृष्टि सम्भव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने पर और आत्म-क्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान मे, अपनी सक्रिय करुणा दी और दर्शन और रूढिवाद को रोकने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकार कर दिये। यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन मे नये उलट-फेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता के जीवन मे भी स्थूल जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौन्दर्य की भावना, उसका चिन्तन मे अत्यधिक प्रसार और अन्त मे निर्जीव अनुकृतियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे है। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी धारा, वीरगाथा-कालीन इतिवृत्त के विषम शिलाखण्डो मे से फूटकर निर्गुण-सगुण भावनाओ की उर्वर भूमि मे प्रशान्त, निर्मल और मधुर होती हुई, रीतिकालीन रूढिवाद के क्षार जल मे मिलकर गतिहीन हो गयी। परिवर्तन का वही क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूप-रेखाओ मे बाँधता चल रहा है या नही, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रूढिवाद से थके हुए कवियो ने, जब सामयिक परिस्थितियो से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा मे अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, ब्रजभाषा का जन्मजात अधिकार खडी बोली को सौप दिया, तब साधारणत लोग निराश ही हुए। भाषा लचीलेपन से मुक्त थी और उक्तियों मे चमत्कार न मिलता था। इसके साथ साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अत उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएं विद्रोह कर उठी। इसमे सन्देह नही कि उस समय की अधिकाश रचनाओ मे भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्त्विक, छन्द नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और सस्कृत मिलते है। पर स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियो से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-शृखला से ऊबे हुए व्यक्तियो को, फिर उन्ही रेखाओ मे बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढिगत आदर्श भाया। उन्हे नवीन रूपरेखाओ मे सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद मे पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छन्दबन्धो मे, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा

वह खडी बोली की सात्त्विक कठोरता नही सह सकता था। अत कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये गढकर अपनी सूक्ष्म भावनाओ को कोमलतम कलेवर दिया। इस युग की प्राय सब प्रतिनिधि रचनाओ मे किसी न किसी अश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य मे व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी, परन्तु अभिव्यक्ति की विशेप शैली के कारण, वे कही सौन्दर्यानुभूति की व्यापकता, कही सवेदन की गहराई, कही कल्पना के सूक्ष्म रग और कही भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादो को जन्म दे सकी है।

पिछले छायापथ को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है, उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विशेषणो मे, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोडकर, छायावाद को अतीत और वर्तमान से सम्वन्धहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपो की अभी जीवन मे परीक्षा नही हो सकी है, अत. यह हमारे मानसिक जगत् मे ही विशेप मूल्य रखते है।

कितने दीर्घ काल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगो से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कही सौन्दर्य का लेश भी नही मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्त्विकता मे भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह हमारे कृष्णकाव्य का शृगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खडी बोली का सौन्दर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से प्रकृति ओर जीवन के सूक्ष्म सोन्दर्य को असख्य रग-रूपो मे अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस धारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि मे भी अपना स्थान ढूँढती रहती है, मोडना कव सम्भव होता, यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को विना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सोन्दर्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेगी।

फिर मेरे विचार मे तो सूक्ष्म के सम्बन्ध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण मे अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुआ, अत स्थूल को उसी रूप मे स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ, परन्तु उसकी सौन्दर्य

दृष्टि स्थूल के आधार पर नही है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नही दिये, क्योकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नही, जो आज की वस्तु है। परन्तु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला मे, हमारी दृष्टि को दौडा दौडाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौन्दर्य-द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौन्दर्य-सत्ता के प्रति नितान्त उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमे निर्माण के परमाणु नही पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमे अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौन्दर्यदृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियो के चित्रो की निष्क्रियता मे मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओ के रूप भी छायायुग की छाया मे निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल के धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियो मे जो मार्मिकता ला सके है, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेगे या नही, इसमे सन्देह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव मे लीन' मे तप-पूत वैधव्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकिकता मे अकेला है।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपको मे इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह मे युगो से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देनेवाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र मे इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नही। पर अन्य युगो के समान इस युग मे भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेगी ही।

जीवन की समष्टि मे सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नही है, क्योकि वह तो स्थूल से बाहर कही अस्तित्व ही नही रखता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक सन्तुलन हो सके तो हमे एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्मगत रूढिग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधिनिषेदमय सिद्धान्तो का सग्रह है, जो अपने प्रयोगरूप को खोकर हमारे जीवन के विकास मे बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करे तो हमे जीवन के ध्वंस

मे लगे हुए विज्ञान के स्थूल को भी अस्वीकार कर देना चाहिए। अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगो मे हो चुका है, विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग मे हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परन्तु हम हृदय से जानते है कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने मे भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, वानर या वनमानुष की पक्ति मे न खडा होकर, सृष्टि मे सुन्दरतम ही नही, शक्ति और बुद्धि मे श्रेष्ठतम मानव के भी कन्धे से कन्धा मिलाकर, उससे प्रेम और सहयोग की साधिकार याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता मे भी एकता का तन्तु ढूँढकर हम, उन रूपो मे सामञ्जस्य स्थापित कर सकते है, धर्म का रूढिगत सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिकवाद द्वारा जीवन मे वही विकृति उत्पन्न कर देगा, जो अध्यात्मपरम्परा ने की थी।

छायावाद ने कोई रूढिगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तो का सचय न देकर हमे केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप मे ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धान्त एक के होकर सबके हो सकते है, अत. हम उन्हे अपने चिन्तन मे ऐसा स्थान सहज ही दे देते है जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् ऐकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतन्त्र है। परन्तु इन सिद्धान्तो से मुक्त जो सत्य है, उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा मे वह प्राय हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गान्धी भी।

हमारा कवि भावित और अनुभूत सत्य की परिधि लाँघकर न जाने कितने अर्द्धपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धान्त बटोर लाया है और उनके मापदण्ड से उसे नापना चाहता है, जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अत आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा-खोटापन कसने की कोई कसौटी नही है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही रहा, यह निर्विवाद है, परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर है।

वास्तव मे जीवन के साथ इस दृष्टिकोण का वही सम्बन्ध है, जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड-खण्डकर उसके सम्बन्ध मे सारा

ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहना है, दूसरा जीवन को विवेचन कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमे उसके प्रति अनुरक्ति नही देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रसूत चिन्तन मे ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित को अपनी सवेदना मे रँग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नही, और यदि देता भी है, तो वे एक एक मांसपेशी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते है, जिसका उपयोग केवल शरीर विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रग चढाये यथार्थ का चित्र दे, परन्तु इस यथार्थ का कला मे स्थान नही, क्योकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नही स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान् और एक साधारण चित्रकार को ले सकते है। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और तब दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओ और दो-एक रग के धब्बो से ही दो क्षण मे अपना चित्र समाप्त कर देगा; परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बैठा-बैठाकर उस वस्तु को ज्यो-का-त्यो कागज पर उतारने मे सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछला ही है, परन्तु वह हमारे हृदय को छू न सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमे चित्रकार ने रेखा रेखा न मिलाकर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण मे होती है, जिसमे वह जीवित ही नही अपने सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग मे वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई मे भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति मे भी मार्मिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्नस्तर से भी काव्य के उपादान ला सकता है, परन्तु वे उसी के होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उसके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नही है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन मे यह, एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप से यह उस तारुण्य का द्योतक है, जो चाँदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढँक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-सग्राम मे प्रवृत्त होते हैं, तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरो को रगीन और साँस की सुरभि से ही काँटो को सुवासित करते चलते हैं। परन्तु जैसे-जैसे सघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते है, कल्पना के पख झड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अन्त मे पलित

केशो के साथ इसके भी रग धुल जाते है। यह उस वार्धक्य का सूचक है, जिसमे हमे जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है, उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार मे यह वार्धक्य सम्भव नही, इसी से आज न कवीद्र वृद्ध है न बापू। इनमे जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नही, किन्तु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानत बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखण्ड रूप की भावना नही कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन मे ऐकान्तिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते है, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखण्ड के सम्वन्ध मे सव ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य ऑक सकेगे और वर्ग-उपवर्गो मे विभक्त मानव-जीवन के सव रूपो का विश्लेपणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके सम्वन्ध मे बौद्धिक निरूपण दे सकेगे, परन्तु खण्ड खण्ड मे व्याप्त एक विशाल राष्ट्रभावना और व्यष्टि व्यष्टि मे व्याप्त एक विराट् जनभावना हमे इस दृष्टिकोण से ही नही मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बॉटकर, जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना सम्भव नही है, केवल शतरज के मोहरो के समान व्यक्तियो को हटा-बढाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ-द्रष्टा ही नही स्वप्न-स्रष्टा भी होना पडता है।

छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक मे ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन मे नही; परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान मे केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता मे देखना चाहेगे, तो हम भी असफल ही रहेगे।

पलायनवृत्ति के सम्बन्ध मे हमारी यह धारणा वन गयी है कि वह जीवन-सग्राम मे असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगो से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटाने का वहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकनेवाली दुर्वलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सवल प्रमाण हमारा चिन्तन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर सघर्ष से निश्चेष्ट थी न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उसका घर धन-धान्य से

शून्य था और न जीवन सुख-सन्तोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सास्कृतिक ध्वस। परन्तु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उसका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिन्तन के नवीन लोक मे भटक गया और उपनिषदो मे उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर से स्थूल की ओर लौटना पडा।

व्यक्ति के जीवन मे भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के सघर्षों मे पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नही किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही थकाकर उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन मे, पढने से जी चुरानेवाले विद्यार्थी को, जब हम खिलौनो से घेरकर छोड देते है, तब कुछ दिनो के उपरान्त वह स्वय पुस्तको के लिए विकल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिडियो से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक, जब अचानक खेत और चिडियो को भूलकर बिरहा या चैती गा उठता है, तब उसमे खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपनी किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चक्की के कठिन पाषाण को अपनी साँसो से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमे चक्की और अन्न की बात न होकर, किसी आम्रवन मे पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति कहे, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल मे मध्यम वर्ग की ऐसी क्रान्ति नही थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नही था, सामाजिक विषमताओ के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जाग्रत नही हुए थे और हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोण पर असन्तोष का इतना स्याह रग भी नही चढा था। तब हम कैसे कह सकते है कि केवल सघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही, उस वर्ग के कवियो ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते है कि उन परिस्थितियो ने आज की निराशा के लिए धरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियो की कोमल भावनाये तो कारागार की कठोर भित्तियो से टकराकर भी कर्कश नही हो सकी, परन्तु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियो को जीवन-सघर्ष मे असमर्थ नही ठहरा सकेगे।

छायावाद के आरम्भ मे जो विकृति थी आज वह शतगुण हो गयी है। उस समय की क्रान्ति की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र लपटो मे फैलकर हमारे

जीवन को क्षार किये दे रही है। परन्तु आज भी तो हम अपने शान्त चिन्तन मे बुद्धि से खराद-खरादकर सिद्धान्तो के मणि ही बना रहे है। हमारे सिद्धान्तो की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है, उसे भी हमारे हृदय के बन्द द्वार से टकरा-टकराकर ही लौटना पड रहा है। वास्तव मे हमने जीवन को उसके सक्रिय सवेदन के साथ न स्वीकार करके, एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने मे असमर्थ छायावाद का भावपक्ष मे पलायन सम्भव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने मे असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन मे पलायन सहज है। और यदि विचारकर देखा जाय, तो जीवन से केवल भावजगत् मे पलायन उतना हानिकर नही, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष मे पलायन, क्योकि एक हमारे कुछ क्षणो को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन मॉग लेता है।

यदि इन सब उलझनो को पारकर हम पिछले और आज के काव्य की, एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करे, तो हमे दोनो मे जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्व मिल सकेगे। जिस युग मे कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्त, उसी युग मे उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने-कोने और सूक्ष्म सौन्दर्यगत चेतना के अणु-अणु मे परिचित हो चुका है, अत स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सके, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सके और पिछली सूक्ष्म चेतना की, व्यापक मानवता मे प्राण-प्रतिष्ठा कर सके, तो जीवन का सामञ्जस्यपूर्ण चित्र दे सकेगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि मे निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध मे गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण है। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पडने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओ के निकट है। उसके प्रतिनिधि कवि, भारतीय सस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बगला काव्य-साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परन्तु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नही दे सकता था। विशेषत. बगला मे उन्हे जो मिला, वह तत्त्वत. भारतीय ही था, क्योकि कवीन्द्र स्वय भारतीय सस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी है। उन्होने अपने देश की अध्यात्म-सुधा से पश्चिम का

मृत्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियो ने उनके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कृतज्ञता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओ की समृद्धि, स्वानुभूत सुख-दु खो की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ है, जो परस्पर सापेक्ष रहेगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य मे भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियो का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन की सजीव सगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौन्दर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति सम्भव नही। वह मेघ को प्राकृतिक परिणाम नही, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

**वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुदृशः सुपेशसः।**
**पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवः॥**

ऋ० ५-५७-४

× ×

**सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे।**

ऋ० ५-५७-५

(विद्युत-प्राण (तीक्ष्ण कान्ति) से उद्भासित, जल धारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत् एक से सुन्दर और शोभन है। अरुण-पीत अश्वोवाले इन वीरो ने विस्तृत अन्तरिक्ष छा लिया है।

कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायको की ख्याति अमर है।)

ऐसे चित्रगीतो ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतो को कितनी रूपरेखा दी है, यह अनुमान कठिन नही।

**बादल गरजो!**
**घेर घेर घोर गगन धाराधर ओ!**
**ललित ललित काले घुँघराले,**
**बाल कल्पना के-से पाले,**
**विद्युत्-छवि उर में कवि नव जीवन वाले!**
**वज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो!—निराला**

इस गीत की रूप-रेखा ही नही, इसका स्पन्दन भी ऐसी सनातन प्रवत्ति से सम्बद्ध है, जो नये-नये रूपो मे भी तत्त्वत. एक रह सकी। इसी प्रकार—

भद्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि।
चक्षुष्मति मे उशती वपुंषि प्रति त्वं दिव्यानक्षत्राण्यमुक्था: ।।

अथर्व० १९-१९-८

(हे विश्रामदायिनी कल्याणि ! तू पूर्ण पात्र के समान (शान्ति से भरी हुई) है, नवीन है, सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गयी है। सब पर दृष्टि रखनेवाली स्नेहशीले रात्रि ! तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रो से अपना श्रृंगार किया है।)

उपर्युक्त गीत मे रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियो को मुग्ध करता आया है।

खडी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकार-मुखी रजनीपुरन्ध्री ! —हरिऔध

छायावाद का कवि रेखाओ से अधिक महत्व स्पन्दन को देता है —

और उसमें हो चला जैसे सहज सविलास
मदिर माधव यामिनी का धीर पद-विन्यास।
कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;
राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अश्रान्त,
बिखरती है, तामरस-सुन्दर चरण के प्रान्त।
मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यो यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप ! —प्रसाद

तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास
मधुर हैं उसके दोनो अधर
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास !
हँसता है तो केवल तारक एक
गुंथा हुआ उन घुंघराले काले काले बालों से।—निराला

प्रसादजी अपनी सुनहली तूलिका से इला का चित्र खींचते हैं—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल !
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा का जीवन-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक-वसन लिपटा अराल ;

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उषा के सामने खड़ा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती शुक्रवासा ।
विश्वस्येशाना ..................... ॥

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आलोक-परिधान से वेष्टित किरणों से उद्भासित नवीन और विश्व की समस्त निधियों की स्वामिनी है। )

अरुण शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली लट घुँघराली कान्त ।

×

आलोक-रश्मि से बुने उषा-अञ्चल में आन्दोलन अमन्द—प्रसाद

आदि पंक्तियों में जो कल्पना मिलती है, वह कुछ परिवर्तित रूप में ऋग्वेद के निम्न गीतों में भी स्थिति रखती है—

हिरण्यकेशा रजसो विसारेऽहि धुनिवातरध्रजीमान् ।
शुचिभ्राजा उषसो नवेदा.............. ॥

(सुनहली अलकोंवाला वह अन्धकार दूर कर दिशाओं में फैल जाता है, अहि के समान (लहरोंवाला), वात सा गतिशील और सबके कम्पन का कारण वह आलोकशोभी उषा का ज्ञाता है ।)

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरुप्रियम् ।
उषः शुक्रेण शोचिषा ॥

(हे दीप्तिमति ! तूने इस विस्तृत और प्रिय अन्तरिक्ष को आलोक और किरणों से बुन दिया है ।)

कामायनी में श्रद्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।

इससे हजारों वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—

**सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम्।**

(तू समुद्रो का सार है, तू बिजलियों का फूल है।)

**उदयाचल से बाल हंस फिर,**
**उड़ता अम्बर में अवदात।—पन्त**

आदि पक्तियो मे हस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अकित किया गया है, वह भी अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है।

**सहस्रहण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।**

(आकाश मे उडता हुआ वह उज्ज्वल हस (सूर्य) अपनी सहस्रो वर्ष दीर्घ यात्रा तक पख फैलाये रहता है।)

**तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरितस्रजः।—अथर्व**

(उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्रमालाएँ पहने खडे है) का भाव ही इन पक्तियो मे पुनर्जन्म पा गया है—

**तृण वीरुध लहलहे हो रहे**
**किसके रस से सिचे हुए?—प्रसाद**

आधुनिक कवियो के लिए आज की परिस्थितियो मे प्राचीन मनीषियो का अनुकरण करना सम्भव ही नही था, पर उनकी दृष्टि की भारतीयता से ही उनकी रचनाओ मे वे रग आ गये, जो इस देश के काव्य-पट पर विशेप खिल सकते थे।

विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रश्नो मे व्यक्त होती है।

अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नो का रूप देता है—

**कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः।**
**किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन॥**

(यह समीर क्यो नही चैन पाता ? मन भी क्या नही एक ही वस्तु मे रमता ? (दोनो क्यो चचल है ? ) कोन से सत्य तक पहुँचने के लिए (जीवन के समान) जल भी निरन्तर प्रवाहित है ?)

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी एक रहस्यमय सौन्दर्य दिया है—

किसके अन्तःकरण-अजिर में
अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का वादल वन जाता
फिर तुषार की वर्षा होती ?—प्रसाद

अलि ! किस स्वप्नो की भाषा मे
इंगित करते तरु के पात ?
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक-स्वप्नों की रात ?—पन्त

सस्कृत काव्यो मे प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से पग मिलाकर चलने लगती है, अत हम मानव-आकार के समान ही उसकी यथार्थ रूपरेखा देखते है और हृदय के साथ गूढ स्पन्दन सुनते है।

. वाल्मीकि के वनवासी राम कहते है—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

(तुपार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नही लगती। आतप से कान्तिहीन अगोवाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है, पर शोभित नही होती।)

पाले से धुँधली हेमन्तिनी राका को, धूप से कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्व मे खडा करके, वे दोनो का एक ही परिचय दे डालते है।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ कालीदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओ मे भी अकित किया है और जीवन के हर स्वर से स्वर मिलानेवाली सगिनी के रूप मे भी। सस्कृत काव्यो मे चेतन ही नही, जड भी मानव-सुख-दुख से प्रभावित होते है।

दु खिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुरा करुणं रुदन्ति।

हरित तृण छोडकर मृग रोते है, शोक-विधुर हस करुण क्रन्दन करते है। इतना ही नही, मनुष्य के दु ख से 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्' पाषाण भी आँसुओ मे पिघल उठते है, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से
'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्रुत-शाखा-रस-वाष्पदूषितान्'—वृक्ष अपनी शाखाओ के रस रूपी अश्रु-विन्दुओ से गीले हो जाते है ।

हिन्दी काव्य मे भी इसी प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये है। निर्गुण के उपासको ने प्रकृति मे रहस्यमय अव्यक्त के सौन्दर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण भक्तो ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव सगिनी बनाया और रीति के अनुयायियो ने, उसे प्रसाधन मात्र वनाने के प्रयास मे भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके विना उनके नायक-नायिकाओ के शरीर-सौन्दर्य और भावो का कोई नाम-रूप ही असम्भव हो गया।

खडी बोली के कवियो ने अपने काव्य मे जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवन की सनातन सहगामिनी के रूप मे अकित किया है, जैसा सस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध मे मिलता है। प्रियप्रवास की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वनवासिनी सीता को घेरनेवाले मृग-विहग-लता-वृक्ष, सबके चित्रण मे स्पष्ट सरल रेखाए और सूक्ष्म स्पन्दन मिलेगा। प्रकृति को सगिनी के रूप मे ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि उत्कृष्ट काव्यो से लेकर लोकगीतो तक व्याप्त हो चुकी है। ऐसा कोई लोकगीत नही, जिसमे मनुष्य अपने सुख-दुख की कथा कोयल-पपीहा, सूर्य-चन्द्र, गगा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनाता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो।

छायावाद मे यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमे जड तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सोन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता, भावात्मक दर्शन सहज कर देती है। इसी से कवि रूप-दर्शन को एक विराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यक्तिगत सुख-दु खो को जीवन के अनन्त क्रम के साथ रखकर उन्हे विस्तार देता है। प्रकृति के

रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-खण्ड को दिव्य अखण्ड और स्पन्दित मूर्त्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दु खो को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे उसका एक-एक स्पन्दन प्रकृति मे अनेक प्रतिध्वनियाँ जगाने लगा। कही प्रकृति उसके अरूप भावो की परिभाषा ही नही, चित्र भी बन जाती है—

इन्दु-विचुम्बित बाल-जलद-सा
मेरी आशा का अभिनय।—पन्त

और कही वह अपनी तन्मयता मे यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपो से मिलते-जुलते भावो के दूसरे नाम है, अत. एक की सज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

झंझा झकोर गर्जन है बिजली है नीरद-माला;
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला!—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप मे न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु। जैसे अगो की अनुभूति के साथ शरीर की अखण्डता का बोध रहता है और शरीर की अनुभूति के साथ अगो की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद मे विविधता स्वत पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अत छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योकि वे दोनो ही एक विराट रूप-समष्टि मे स्थिति रखते है, और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते है। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण-परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।

एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम
दूसरा रञ्जित किरण से श्री-कलित घनश्याम;
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल!—प्रसाद

ढुलकते हिम जल से लोचन
अधखिला तन अखिला-मन
धूलि से भरा स्वभाव-दुकूल
मृदुल-छवि पृथुल सरलपन;
स्वविस्मित से गुलाब के फूल
तुम्हीं सा था मेरा बचपन!—पन्त

आदि में सजल आकाश और किरण-रञ्जित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शैशव का जो एक चित्र मिलता है, वह अपनी परिधि मे प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नही स्पन्दन भी घेरना चाहता है; अत भाव-चित्र ही रूप-गीत हो जाता है।

छायायुग के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अकित हुए है, इसी से उसमे एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

'वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी' मे विधवा की दीप्त करुणा, 'चला, आ रहा मौन धैर्य सा' मे मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, 'वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नही, मे श्रद्धा की व्यथाजनित जडता आदि, इसी प्रवृत्ति का परिचय देते है।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतो के भाव मे 'सग में पावन गगा-स्नान' की पवित्रता और रूप मे 'गूढ रहस्य बना साकार' की व्यापकता आ गयी।

नारी का चित्र मानो स्वय प्रकृति का चित्र है—

वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश सा स्पष्ट भाल,
दो पद्म-पलाश-चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
चरणो में थी गतिभरी ताल!—प्रसाद

तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ, हास
सृष्टि के उर की साँस;—पन्त

वह कामायनी जगत की
मंगलकामना अकेली

मे जो मगलमयी शक्ति है, उसके सौन्दर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, श्वासों मे
पारिजात-कानन खिलता;

और इस सौन्दर्य को सकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र,
सौन्दर्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल-पात्र!

इस विकृति के कारण की ओर सकेत भी स्वाभाविक है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह मे कुछ सत्ता है नारी की ! —प्रसाद

छाया-युग के भावगत सर्ववाद ने नारी-सौन्दर्य के प्रति कवि की दृष्टि मे वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिससे

सजल शिशिर-धौत पुष्प
देखता है एकटक किरण-कुमारी को ! —निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास मे सहायक हुआ; क्योकि उस जागृति के सूत्रधार व्यावहारिक धरातल पर ही नही, जीवन की सूक्ष्म व्यापकता मे भी नारी के महत्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरान्त भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खडी हुई, तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य मे उसका ऐसा भावगत चित्रण कहाँ तक उपयुक्त था, यह प्रश्न भी सम्भव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध मे, उस समय तक बहुत से आन्दोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा-रेखाओ को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विशेष दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियो ने उसे अपने भावजगत् मे जैसी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विशेष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत सकीर्ण बनाकर देखते देखते वह सकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना, उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौन्दर्य की स्थूल जडता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्य-मय शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त हो गया, जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली सकीर्णता धो डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्वाभाविक थी, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और संस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम सघर्ष काल मे भी पुरुष अपने पार्श्व मे खडी नारी की रूपरेखा प्रकृति मे देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक धरातल पर ठहरने मे समर्थ हो सका, तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। सारत. यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन मे अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव मे

नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पडा; पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छायायुग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की वासना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुत्क्षामयथार्थवादी पुरुष उस पर आघात किये विना एक पग बढने का भी अवकाश नही पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौन्दर्य मे ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौन्दर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नही करता। विशेषत उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है, जब बाह्य विषमताएँ पार कर आन्तरिक एकता स्पष्ट करना ही लक्ष्य रहे। जिन कारणो से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओ से मुक्त करके, उसमे सामञ्जस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ मे बाँधकर काव्य मे स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नही, क्योकि हमारे काव्य का एक महत्वपूर्ण अश ऐसी अभिव्यक्तियो पर आश्रित है। वेदगीतो की एक बहुत बडी सख्या आत्मबोध और स्वानुभूत उल्लास-विषाद को स्वीकृति देती है। सस्कृत और प्राकृत काव्यो मे वे रचानएँ अशेष माधुर्यभरी है, जिनमे दृश्य चित्रो के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये है। निर्गुण काव्य मे आदि से अन्त तक, स्वानुभूत मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तो के गीति-काव्य मे सुख-दु ख, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने, जो मर्मस्पर्शिता पायी है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जायगा। सब प्रकार की अलकारिता से शून्य सरल लोकगीतो मे जो अन्तरतम तक प्रवेश कर जानेवाली भावतीव्रता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे भाव रूप चाहता है, अत शैली का कुछ सकेत-मयी हो जाना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्त्वचिन्तन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए एक सकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सब ने ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुँचा सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की शैलियो मे अन्तर है, परन्तु यह अन्तर रूपगत है तत्वगत नही; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अविक, ठोस धरती चाहती है। प्राय परिचित और प्रिय वस्तुओ से सम्बन्ध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नही। विशेषत प्रत्येक कवि और कलाकार अपने सस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग सवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना उसके ज्ञान और अनुभूतियो की चित्रमय व्याख्या वन जाती है।

प्रकृति के सौन्दर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन सुनहले-रुपहले रगो से रँग दिया था, वे तव से आज तक धुल नही सके। सभ्यता के आदिकाल मे ही यहाँ के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियो मे कितने चटकीले रग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएँ देती है।

परमतत्त्व हिरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हिरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुन्धरा आदि सज्ञाओ मे जगमगाती है। भाषा का सम्पूर्ण कोष स्वर्ण-रजत के रगो से उद्भासित और असख्य रूपों से समृद्ध है।

इस समृद्धि का श्रेय यही की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जमे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की सज्ञा देने की भूल नही करेगा, वर्फीली ठण्डी धरती को कोई वसुन्धरा कहकर पुलकित न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओ का क्रम अटूट रहा है। जव तपोवनवासी आदि कवि 'शालय कनकप्रभा' कहकर धान की वाली का परिचय देता है, तव कालिदास जैसे कवियो की समृद्ध कल्पना के सम्वन्ध मे कुछ कहना व्यर्थ है। जव निर्गुण का उपासक फकीर 'रवि ससि नखत दिपै ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती,' कहकर अपने अरूप का ऐश्वर्य प्रकट करता है, तव सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का ऐश्वर्य लोकगीतो मे भी ऐसा ही निरन्तर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आँसू को मोती के समान माना है, पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है, 'मोती ढरकै जव लालन रोवैं फुलझरियन जैसी किलकनियाँ।' मोती ढुलकते हैं जव उसका शिशु रोता है और फुलझडियो जैसी उसकी किलकारियाँ हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नही जिसमे ग्रामवधू सोने के थाल मे भोजन परोसकर और सोने की झारी मे गगाजल भरकर अपने पति का सत्कार नही करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो सस्कार हैं, वे किसी प्रकार भी विदेशीय नही।

आज की दरिद्रता हमे अपनी धरती या प्रकृति से नही मिली, हमारी दुर्वलता का अभिशाप है, अत काव्य जव प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तव कल्पना मे सूक्ष्म रेखाओ का वाहुल्य और दीप्त रगो का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्वत प्रकृति के बीच मे जीवन का उद्गीथ है, अत. कल्पनाएं वहुरंगी और विविधरूपी है। पर वैभव की दृष्टि से वह आज के यथार्थ के कितने निकट है, यह तब प्रकट होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

**प्राची में फैला मधुर राग**
**जिसके मण्डल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।**
**—कामायनी**

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

**मरकत - डिब्बे सा खुला ग्राम**
**जिस पर नीलम नभ आच्छादन।**
**—ग्राम्या**

छायावाद को दु खवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दु ख का सम्बन्ध है, उसके दो रूप हो सकते है—एक जीवन की विमषता की अनुभूति से उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल घरातल पर व्यक्तिगत असफलताओ से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से वहुत गहरा सम्बन्ध रखती है। वैदिक काल ही मे एक ओर आनन्द-उल्लास की उपासना होती थी और दूसरी ओर इस प्रवृत्ति के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ सम्वन्वी पशुवलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे विकास पाकर जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो को रूपरेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित ससार का सबसे बडा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जायगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यो मे से एक को करुण-भाव से ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने सघर्ष के अन्त मे करुण-भाव ही मे चरम परिणति पा लेता है। सस्कृत के उत्कृष्ट काव्यो मे भी कवि अपने इस सस्कार को नही छोडता। भवभूति तो करुणा के अतिरिक्त कोई रस ही नही मानता और कालिदास के काव्यो मे करुणा श्वासोच्छवास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुखद अन्त मे समाप्त होने वाला रघुवश, जीवन के सब उल्लास-उमगो की राख पर दुष्यन्त से साक्षात् करनेवाली शकुन्तला यदि करुण-भाव न जगा सके तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण है। जहाँ भी चिन्तन-प्रणाली इतनी

विकसित और जीवन की एकता का भावन इतना सामान्य होगा, वहाँ इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। 'आत्मवत्सर्वभूतेपु' की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी, तब उसका वाह्य अन्तर, पग पग पर असन्तोष को जन्म देता रहेगा।

परम तत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुण वादियो के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलत. करुणा से सम्बद्ध होगी।

करुणा का रग ऐसा है, जो जीवन की वाह्य रेखाओ को एक कोमल दीप्ति दे देता है, सम्भवत. इसी कारण लौकिक काव्य भी विप्रलम्भ शृगार को वहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण भावना व्यक्तिगत सुख-दु ख के साथ मिल जाती है, तब उन दोनो के वीच मे विभाजन के लिए वहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेन्दु युग मे भी हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र वनते-विगडते देखते हैं। पौराणिक चरित्रो की खोज करुण-भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश, समाज आदि का यथार्थ चित्रण व्यक्तिगत विपाद को विस्तार देता है। खडी वोली के कवि सस्कृत काव्य-साहित्य के और अधिक निकट पहुँच जाते है। प्रिय-प्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला का, नये वातावरण मे पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्रगीतो और सामाजिक चित्रण मे व्यक्तिगत विपाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओ पर आश्रित है, अत. व्यापक करुण-भाव और व्यक्तिगत विषाद के वीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत मे गाया हुआ पराया दु.ख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव मे एकरस जान पडती है।

इस व्यक्तिप्रधान युग मे व्यक्तिगत सुख-दु ख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अत छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विपाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम वन सका।

समष्टिगत जीवन की वाह्य विकृति और आन्तरिक विपमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था, वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नही रखता था। वर्णनात्मक काव्यो मे जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की सवेदनशीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओ में, उसका वैयक्तिक विपाद वनकर उपस्थित हो सकी। अत. इस विपाद के विस्तार मे

दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देनेवाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर थकने लगे।

कामायनी मे बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन मे सामञ्जस्य लाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत सस्कार है, क्षणिक् उत्तेजना नही। इस सामञ्जस्य का सकेत सब प्रतिनिधि रचनाओ मे मिलेगा।

करुण-भाव के प्रति कवियो का झुकाव भारतीय सस्कार के कारण है, पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियो से मिल सका।

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा
वृक्ष पत्र की मधुछाया मे,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
अमृत सदृश नश्वर काया मे?

जिससे कन-कन मे स्पन्दन हो,
मन मे मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे!
—प्रसाद

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु-कन।

वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परमपद
वेदना ही का मनोहर रूप है;
—पन्त

मेरा आकुल क्रन्दन
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
वायु मे भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर;
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर!
—निराला

इस विषाद मे व्यक्तिगत दु खो का प्रकटीकरण न होकर उस शाश्वत करुणा की ओर सकेत है, जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देती है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि ने इस तरल सामञ्जस्यभाव को भिन्न-भिन्न नामो से स्मरण किया है, पर वे इसे पूर्णतः भूल नही सके।

व्यक्तिगत सुखदु ख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकी, पर वे छायायुग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित है कि उन्हे स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र मे विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामयिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य सम्बन्धी साधनापद्धति को अपनाना सहज नही था, पर सामञ्जस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर करुणा का ऐसा अन्तरिक्ष बुन दिया, जिसकी छाया मे दु ख ही नही सुख के भी सब रग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियो ने भी छायायुग की करुणा मे एक रहस्यमयी स्थिति पायी। जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रन्दन व्यापक है, वैसे ही राष्ट्रतत्त्व की मुक्ति मे अपनी मुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विषाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग मे एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नही हो जाती, गौण रूप से विकास पाती रहती है। छायायुग मे भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत ही प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकी, जिनमे से अनेक अब अधिक स्पष्टरूप मे अपना परिचय दे रही है। स्वय छायावाद तो करुणा की छाया मे सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप मे उसकी उपयोगिता है। इस रूप मे उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नही, वरन् आभार ही अधिक है, क्योकि भाषा, छन्द, कथन की विशेष शैली आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगो का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान से तो यथार्थोन्मुख विचारधारा का असहयोग नही, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौंदर्य पर आघात करना चाहती है, जो इस देश की सास्कृतिक परम्परा की धरोहर है। जब तक इस आकाश मे अनन्त रंग है, इस पृथ्वी पर अनन्त सौंदर्य है, जब तक यहाँ की ग्रमीणा, कोकिल-काग से सदेश भेजना नही

भूलती, किसान, चैती चाँदनी और आकाश की घटाओ को मूर्तिमत्ता देना नही छोडता, तब तक काव्य मे भी यह प्रवृत्ति रहेगी। छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ मे भी नही, क्योकि वह इस धरती और आकाश से बँधा है।

सास्कृतिक विकास की दृष्टि से हमारे यहाँ का घोर अशिक्षित भी विशेष महत्त्व रखता है, क्योकि दर्शन जैसे गूढ विषय से लेकर, श्रम जैसे सरल विषय तक उसकी अच्छी पहुँच है। हमारे सास्कृतिक मूल्यो के पीछे कई हजार वर्ष का इतिहास है, अत. इस मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हो तो आश्चर्य नही।

पुरातन सास्कृतिक मूल्यो के सम्बन्ध मे यदि आज का यथार्थवादी इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दो को स्मरण रख सके, तो सम्भवत: वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

'We must retain the beautiful, take it as an example, hold on to it even though it is old. Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old ? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new ? That is nonsense, sheer nonsense. There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west.'

(Lenin—the man)

(हमे, जो सुन्दर है उसे ग्रहण करना, आदर्श के रूप मे स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन होने के कारण वास्तविक सौंदर्य से विरक्ति क्यो और नवीन के विकास के लिए उसे सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यो ? जिसका अनुशासन मानना ही होगा, ऐसे देवता के समान नवीनता की पूजा किस लिए ? यह तो अर्थहीन है—नितान्त अर्थहीन! इस प्रवृत्ति मे कला की रूढिगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला-रूढियो के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी सस्कृति को महत्त्व देकर उसी 'वास्तविक सौन्दर्य' की ओर सकेत करता है—

'मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया मे किसी सस्कृति का भण्डार इतना

भरा-पूरा नही, जितना हमारी सस्कृति का। इस देश की सस्कृति-गगा मे अनेक सस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली है। इन सवका कोई सन्देश हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनावे। जीवन जड दीवारो से विभक्त नही किया जा सकता। . . समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव है। हमारी अन्त स्थ सुप्त भावनाओ को जाग्रत करने का सामर्थ्य जिसमे होता है वह कवि है। अपनी अपूणता महसूस करना, प्रगति का पहला कदम है।'

—महात्मा गाधी

हम आँधी तूफान के ऐसे ध्वसमय युग के वीच मे है, जिसे पार कर लेने पर जीवन के सर्वतोन्मुख निर्माण का कार्य स्वाभाविक ही नही अनिवार्य हो उठेगा। निर्माण के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियो के स्रष्टा नही वन सकते, केवल नवीन परिस्थितियो मे उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जायगा। करुणा, प्रेम, द्वेप, क्रोध आदि मूल भावो पर सभी मनुष्यो का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावो का विकास मानव ही नही, उसे घेरनेवाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है। इसी कारण किसी मनुष्य-समूह मे चिन्तनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी मे युद्ध-प्रेम ही प्रधान जान पडेगा, किसी मे व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी, और किसी मे भावुक कलाकार ही सुलभ होगे। वाह्य परिस्थितियो के कारण वहुत सी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दव जाती है, वहुत सी अस्वस्थ, प्रधानता पाने लगती है। जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्ही प्रवृत्तियो की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए ऐसे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होगे, जो सम्पूर्ण अतीत को विक्षिप्तो की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नही पा लेते।

साहित्य,काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियो के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास है, अत कलाकार इन प्रवृत्तियो को अपने युगविशेष की सम्पत्ति समझकर और अतीत के सारे सास्कृतिक और साहित्यिक मूल्यो को भूलकर लक्ष्य तक नही पहुँच पाता।

पिछले अनेक वर्षो की विपम परिस्थितियो ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे-छोटे खण्डो मे विभाजित करता रहे, तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामञ्जस्य की ओर चलना है, अत जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ, उनका सास्कृतिक मूल्य, उन मूल्यो का, आज की परिस्थिति मे उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी यात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नही हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पडा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के सम्बन्ध मे छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति मे सरल सौंदर्य ही नही, मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते है माताओं के
वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुस्कान! —निराला

# रहस्यवाद

जब प्रकृति की अनेकरूपता मे, परिवर्तनशील विभिन्नता मे कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय मे समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योकि मानवीय सम्बन्धो मे जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नही घुल जाता, तब तक वे सरस नही हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नही हो जाती, तब तक हृदय का अभाव नही दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना, इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।

रहस्यवाद, नाम के अर्थ मे छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ मे विशेष प्राचीन नही। प्राचीन काल मे परा या ब्रह्मविद्या मे इसका अकुर मिलता अवश्य है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमे स्थान कहाँ ? वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि या आत्मा की लौकिकी-पारलौकिकी सत्ता-विषयक मतान्तर, मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते है, हृदय से कम, क्योकि वही तो शुद्ध-बुद्ध चेतन को विकारो मे लपेट रखने का एकमात्र साधन है। योग का रहस्यवाद इन्द्रियों को पूर्णत वश मे करके आत्मा का, कुछ विशेष साधनाओ और अभ्यासो द्वारा इतना ऊपर उठ जाना है, जहाँ वह शुद्ध चेतन से एकाकार हो जाता है।

सूफीमत के रहस्यवाद मे अवश्य ही प्रेम-जनित आत्मानुभूति और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है, परन्तु साधनाओ और अभ्यासो मे वह भी योग के

समकक्ष रखा जा सकता है और हमारे यहाँ कबीर का रहस्यवाद, यौगिक क्रियाओं से युक्त होने के कारण योग, परन्तु आत्मा और परमात्मा के मानवीय प्रेम-सम्बन्ध के कारण, वैष्णव-युग के उच्चतम कोटि तक पहुँचे हुए प्रणयनिवेदन से भिन्न नही।

आज गीत मे हम जिसे रहस्यवाद के रूप मे ग्रहण कर रहे है, वह इन सब की विशेषताओ से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के साकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र मे बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमे सन्देह नही कि इस वाद ने रूढि बनकर बहुतो को भ्रम मे भी डाल दिया है, परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियो ने इसे वास्तव मे समझा, उन्हे इस नीहार लोक मे भी गन्तव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपार्थिव पार्थिवता और साधना-न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अत. यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नही। हम यह समझ नही सके है कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नही।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञानक्षेत्र मे एक सिद्धान्तमात्र थी, वही हृदय की कोमलतम भावनाओ मे प्राणप्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी सन्तो के प्रेम मे अतिरजित होकर, ऐसे कलात्मक रूप मे अवतीर्ण हुई, जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनो को सन्तुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विषम शिलाओ से बँधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियो की वेला मे उन्मुक्त, यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि इस वस्तुवाद प्रधान युग मे भी वह अनादृत नही हुआ, चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपको मे सुन्दरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग मे मनुष्य, भावपक्ष की सहायता से अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटियाँ क्यो प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पीठिका क्यो खोजता फिरे और फिर परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत् में क्यो

प्रतिष्ठित करे, यह सभी प्रश्न सामयिक हैं। पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा, ऐसा सम्भव नही जान पडता, क्योकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नो की एक बडी सख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणत अन्य व्यक्तियो के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनो ही मे है। एक मे वह अपनी इकाई मे पूर्ण है और दूसरी मे वह अपनी इकाई से बाह्य जगत् की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अन्तर्जगत् का विकास ऐसा होना आवश्यक है, जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ, समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिये केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्वो की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नही, जो जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है, दिशा नही।

भावातिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपान्तर मान सकते हैं, जो एक ही क्षण मे हमारे सम्पूर्ण अन्तर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् मे अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है; पर बुद्धि के दिशानिर्देश के अभाव मे, इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमाएँ खोज लेना कठिन हो जाता है, अत. दोनो का उचित मात्रा मे सन्तुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नही, प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन को गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देनेवाली अनुभूतियो को, भावना के साँचे मे ढालना पडा है। हमे निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर, कदाचित फिर चिर सवेदन रूप सक्रिय भावना मे जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नही, इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नही है, यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है, तो हमे वह सौंदर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओ मे फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओ से अकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष रूप-भावना मे छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियो से निर्मित विश्वबन्धुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शो मे अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढियो को हम अध्यात्म की सज्ञा देते है, तो उस रूप मे काव्य मे उसका महत्त्व नही रहता। इस कथन मे अध्यात्म को बलात लोकसग्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति

अस्वीकार करने का कोई आग्रह नही है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप मे भी सफल है, परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपको मे ही तो सम्भव होगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो, परन्तु उनकी मिलन-विरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यजना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लायी थी? हम चाहे आध्यात्मिक सकेतो से अपरिचित हो, परन्तु उनकी लौकिक कला-रूप सप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर की ऐकान्तिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है।

वास्तव मे लोक के विविध रूपो की एकता पर स्थित अनुभूतियाँ लोक-विरोधिनी नही होती; परन्तु ऐकान्तिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए, वे व्यक्ति की कलात्मक सवेदनीयता पर अधिक आश्रित है। यदि ये अनुभूतियाँ हमारे ज्ञानक्षेत्र मे कुछ दार्शनिक सिद्धान्तो के रूप मे परिवर्तित न हो जावे, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलनेवाली पृष्ठभूमि पर धारणाओ की रूढि मात्र न बन जावे, तो भावपक्ष मे प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनो को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती है।

हमारी अन्त शक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी, अत. जीवन मे ऐसे अनेक क्षण आते रहते है, जिनमे हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते है। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अन्यथा हम सभी देशो के समृद्ध काव्य-साहित्य मे किसी न किसी रूप मे इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही, जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव मे दोनो ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त्त और बाह्य जगत् की अमूर्त्त भावनाओ की कलात्मक समष्टि है। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नही कसी जा सकती, तब उसका कारण विषय-विशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त्त और अमूर्त्त जगत् एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए है कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नही, इसका जो उत्तर अनेक युगो से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही है, वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति मे लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य के रग और रूपो के रेखाजाल से बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त्त का दर्शन और अमूर्त्त का भावन सहज कर

देता है, तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा बुझाकर विवाद करना कि उसने कूप क्यो खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था; क्योकि उसने धरती के ही अन्तर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अत. किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श-समर्पित व्यक्तियो मे ससार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेगे, सौन्दर्य से तादात्म्य के इच्छुको मे श्रेष्ठ कलाकारो की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमे साधक और भक्त दिये हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति मे बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अत उसमे सत् और चित् की एकता मे आनन्द सहज सम्भव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है, जिसमे हृदय की सीमा, एक असीमता मे अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। और हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धो मे माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामञ्जस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओ मे रग भर सके, सब रूपो को सजीवता दे सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खडा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच मे वरदान की स्थिति सम्भव है, जो इष्ट नही इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभावमूलक प्रेम मे आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नही। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान सम्भव नही, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनन्त रूपो की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नही। अत. उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखे तो स्थूल जगत् मे भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अन्तर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट अपने आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके सन्तोष का अनुभव करता है, वह सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि से सबको विशिष्ट जान पडे, ऐसा कोई नियम नही। प्राय. एक के अटूट

स्नेह, भक्ति आदि का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप में उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अन्तर्जगत् मे जो कुछ भव्य छिपाये हुए है, वह जिसमे प्रतिबिम्बित जान पडता है, उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्म-निवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पण से भिन्न है, क्योकि लालसा अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की साकारता नही देखती, किसी स्थूल अभाव की पूर्ति पर केन्द्रित रहती है।

व्यावहारिक धरातल पर भी जिन व्यक्तियो का आत्मनिवेदन एकरस और जीवनव्यापी रह सका है, उनके अन्तर्जगत् और बाह्याधार मे ऐसा ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मिलता है और यह भाव अन्तर्जगत् के विकास के साथ तब तक विकसित होता रहता है, जब तक बाह्याधार मे अन्तर्जगत् के विरोधी तत्त्व न मिलने लगे।

अवश्य ही सूक्ष्म जगत् के आत्मनिवेदन को स्थूल जगत् के आत्मसमर्पण के साम्य से समझना कठिन होगा। पर यह मान लेने पर कि मनुष्य का आत्मनिवेदन उसी के अन्तर्जगत् की प्रतिकृति खोजता है, सूक्ष्म का प्रश्न बहुत दुर्बोध नही रहता। रहस्यद्रष्टा जब खण्ड रूपो से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है, तब उसके लिए अपने अन्तर्जगत् के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और बाह्य जगत् की सीमा की भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता मे मिटा देने की इच्छा उसे पूर्ण आत्मदान की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्यभाव न होता, तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बन जाता, भावभूमि पर आधार-आधेय की एकता नही।

प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य मे रूपप्रतिष्ठा, बिखरे रूपो मे गुणप्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि मे एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त मे रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।

जीवन के स्थूल धरातल पर कर्मनिष्ठ ऋषि जब 'अग्निना रयिमश्नवत्पोपमेव दिवे दिवे यशस वीरवत्तमम्' (प्रतिदिन मनुष्य अग्नि के द्वारा पुष्टिदायक, कीर्ति-जनक, वीर पुरुषो से युक्त समृद्धि प्राप्त करता है) कहता है, तब हमे आश्चर्य नही होता। पर जब यही बोध आकाश के अस्त-व्यस्त रगो मे नारी का रूप-दर्शन बनकर उपस्थित होता है, तब हम उनकी सौन्दर्य-दृष्टि पर विस्मित हुए बिना नही रहते।

**उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।**
**आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये॥**

ऋ० ३-६१-२

(हे कमनीय कान्तिवाली! अपने चन्द्ररथ पर, सत्य को प्रसारित करती हुई आभासित हो। उत्तम नियन्त्रित हिरण्यवर्ण किरणाश्व तुझे दूर दूर तक पहुँचावे।)

वादलो को लानेवाले मरुद्गण की उपयोगिता जान लेनेवाला ऋषि, जव उन्हे वीर-रूप मे उपस्थित करता है, तव हम उसके प्रकृति मे चेतना के आरोप से प्रभावित हुए विना नही रहते।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥
ऋ० ५-५४-११

(स्कन्ध पर भाले, पैरो मे पदत्राण, वक्ष पर सुवर्णालकार युक्त और रथशोभी मरुतो के हाथो मे अग्नि के समान कान्तिमत् विद्युत् है और ये सुवर्ण-खचित शिरस्त्राण धारण किये है।)

रथीव कशयाश्वां अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्या अह।
ऋ० ५-८३-३

(विद्युत् के कशाघात से वादल रूपी अश्वो को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गये हैं।)

इस प्रकार रूपो की प्रतिष्ठा और व्यापार की योजना के उपरान्त वे मनीषी अखण्ड रूप और व्यापक जीवन-धर्म तक जा पहुँचते है।

इसके उपरान्त हमे उनकी रहस्यानुभूति और उससे उत्पन्न जिस आत्मनिवेदन का परिचय मिलता है, उसमे न रूपो की समष्टि है न व्यापारो की योजना, प्रत्युत् वह अनुभूति किसी अव्यक्त चेतन से वैयक्तिक तादात्म्य की इच्छा से सम्बन्ध रखती है।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥
ऋ० ७-८८-३

[मैं और मेरे वरणीय देव दोनो जव नाव पर चढकर उसे समुद्र के वीच मे ले गये तव जल के ऊपर सुख-शोभा प्राप्त करते हुए झूले मे (आदोलित तरंगो मे) झूले।]

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित्।
ऋ० ७-८८-५

(हे वरणीय स्वामी ! हम दोनों का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्यभाव कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोजता हूँ।)

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणं भुवानि।
ऋ० ७-८६-२

(कब मैं अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा, उसके साथ साक्षात् सवाद करूँगा और कब मैं उस वरण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा।)

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
ऋ० ७-८६-३

(हे वरणीय ! मैं दर्शनाकाक्षी होकर तुझसे अपना वह दोष पूछता हूँ जिसके कारण यहाँ बँधा हूँ। मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तेरे समीप आया हूँ।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अकुर ने दर्शन और काव्य मे जैसी विविधता पाई है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है, वैसे-वैसे एक चिन्तन-प्रधान जिज्ञासा अमरवेलि के समान फैलने लगती है, अत कवि प्रकृति के विविध रूपो पर चेतना का आरोप करके ही सन्तुष्ट नही होता। वह इस सम्बन्ध मे क्या और क्यो भी जानना चाहता है।

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवः सः॥
अथर्व० १०-७-६

(विपरीत रूपवाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे है ? वे सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही है उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है ?)

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
अथर्व० १०-७-४

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्तमान् है? यह पवन कहाँ पहुंचने की इच्छा से निरन्तर बहता है? यह सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे है, उस आश्रय को बताओ। वह कौन सा पदार्थ है?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को, प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी, अत. उसकी सर्ववाद और आत्मवाद सम्बन्धी दो शाखाएँ हो गई।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व० १०-७-३३

(सूर्य और पुन पुन नवीन रूप मे उदित होनेवाला चन्द्रमा जिसकी दो आँखो के समान है, जो अग्नि को अपने मुख के समान बनाये हुए है, उस परम तत्त्व को नमन है।)

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व० १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण है, अन्तरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है, उस परम शक्ति को नमन है।)

इसी की छाया हमे गीता के सर्ववाद मे मिलती है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥

(तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नही है, तुम अनन्त शक्ति युक्त और अनन्त भुजाओवाले हो, सूर्य-चन्द्र तुम्हारे नेत्र है, दीप्त अग्नि मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करनेवाले! मै तुम्हे देख रहा हूँ।)

यह सर्ववाद अधिक भागवत होकर भारतीय काव्य मे प्रकृति और जीवन को विभिन्नता में एकता देता रहा है।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति मे दिव्य शक्तियो का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव जीवन के पग से पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है। इस मानव की बाह्य रूपरेखा के समान उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष

देखते है और हृदय की धड़कन के समान उसके गूढ़ स्पन्दन का भी अनुभव करते है।

संस्कृत-काव्यो मे प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव सुख-दु खो के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता माँगना, इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप है।

शकुन्तला के साथ पलने वाले वृक्ष-लता क्यो इतने सजीव है कि वह उनसे विदा माँगे बिना पति के घर भी नही जा सकती, उत्तररामचरित की नदियाँ क्यो इतनी सहानुभूतिशीला है कि एकाकिनी सीता के लिए सखियाँ बन जाती है, यक्ष के निकट मेघ क्यो इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ व्यथा का वाहक बना लेता है, आदि प्रश्नो का उत्तर, उसी प्रवृत्ति मे मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है।

चिन्तन की ओर बढनेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का कम से कम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है—

**एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।**
**यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥**
**अथर्व० ११-४-२१**

(यह हस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (संसार से) ऊपर उठाकर भी दूसरा जल मे स्थिर रखता है। यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप मे पूर्णतः असग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो न दिन हो, न कभी उषाकाल हो सके।)

**बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।**
**ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥**
**अथर्व० १०-८-२५**

(एक वस्तु जो बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नही के समान दिखाई देती है, तब जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है, वह मुझे प्रिय है।)

क्रमश. इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम-भाव के लिए कही स्थान नही रहा—

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥
अथर्व० १०-८-३८

(मैं उस व्यापक सूत्र को जानता हूँ जिसमे यह प्रजा गुँथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूँ जो सब से महत् है।)

परन्तु तत्त्वदर्शक इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधना मे चिर नवीन देखता है—

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥
अथर्व० १०-८-२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है। पर वह तो आज भी नया है, जैसे दिन-रात बराबर नये-नये उत्पन्न होते हैं, पर रूपो मे एक दूसरे के समान होते है।)

यही भाव उपनिषदो मे मिलता है—

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्यं स उ श्वः एतद्वैतत्।
—का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड की विविधता की अनुभूति, हमारा हृदय करता है, तब वह रूपो ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओ की सृष्टि स्वाभाविक है, क्योकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौन्दर्य की विभिन्नता मे अनुवादित करने का लक्ष्य रखती है। परन्तु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा मे घेर लेता है, तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के सहारे रूप-समष्टि की एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है, क्योकि उसका उद्देश्य रूपो की विविधता को परम तत्त्व मे एकरस कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चिन्तन मे सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने लगी। वह खो नही गयी, क्योकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है। ब्रह्म और जगत् की सापेक्षता, आत्मा और परमात्मा की एकता, आदि ने दर्शन की विविध शैलियो को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से थके हुए कुछ मनीषियो ने चिन्तनपद्धति के द्वारा ही आत्मा का चरम विकास सम्भव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा, जो कुछ

योगक्रियाओ और अभ्यासों द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति-सम्पन्न वनाने मे विश्वास रखता था —दूसरे अर्थ मे वह कर्मकाण्ड के रूप मे परिवर्तन चाहता था, उसका अभाव नही। एक कर्म-पद्धति भौतिक सिद्धियो के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियो के लिए। इसी से अन्त मे सावनात्मक रहस्यवाद, वज्रयानी, शैव, तान्त्रिक आदि सम्प्रदायो मे, ऐसे भौतिक घरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

**अष्टाचक्र नवद्वारा देवानां पूरयौद्धया।**

(अष्ट चक्र नव द्वारोवाली यह इन्द्रियगणो की अजेय पुरी है। )

**पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।**

**—अथर्व०**

(नव द्वारवाला यह श्वेतकमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणो से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पक्तियो मे शरीर-यन्त्र की जो रहस्यात्मकता वर्णित है, उसने ऐसा विस्तार पाया, जो आत्मा को सबसे ऊपर परमव्योम तक पहुँचाने का साधन भी हुआ और सबसे नीचे पाताल से वॉध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन के प्रहरी हमारे चिन्तनशील मनीषी रहे। उपनिषदो और विशेषत: वेदान्तदर्शन ने आत्मा और परमतत्त्व के सम्बन्ध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिपद् हमारे पद्य और गद्य के बीच मे स्थिति रखते है।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी सकेतात्मक शैली, अन्तर्जगत् मे उद्भासित सत्य को स्पष्ट करनेवाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताएँ, उन्हे काव्य की सीमा से बाहर नही जाने देगी और उनका तत्त्वचिन्तन, उनके सिद्धान्त सम्बन्धी सवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हे गद्य की परिधि मे रक्खेगे।

कर्म को प्रधानता देनेवालो के विपरीत तत्त्वचिन्तको ने अन्त करणशुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुँचानेवाला साधन ठहराया—

**धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं**
**शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।**
**आयम्य तद्भावगतेन चेतसा**
**लक्ष्य तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥**

[हे सौम्य ! उपनिषद् (ज्ञान) महास्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना रूप तीक्ष्ण बाण चढ़ा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे खींचकर अक्षर लक्ष्य का वेध कर।]

रहस्यवाद मे जो प्रवृत्तियाँ मिलती है, उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचारधारा मे मिल जाते है। रहस्यभावना के लिए द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योकि एक के अभावमे विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।

द्वैत के लिए तत्त्वचिन्तक अपनी सांकेतिक शैली मे कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—मु० उप०

(साथ रहने और समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही तरु पर रहते हैं। उनमे एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है। )

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपो मे व्यक्त की गयी है—

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।
—छा० उप०

(वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है। )

नेह नानास्ति किंचन।
—क० उप०

(यहाँ नानारूप कुछ नही है। )

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद।
—बृ० उप०

(वह अन्य है, मै अन्य हूँ, जो यह जानता है वह नही जानता।)

रहस्यवादियो के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा और परमात्मा की एकता सम्भव समझते है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है, उस वरण के द्वारा ही वह परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है।]

इस एकता के उपरान्त आत्मा और ब्रह्म मे अन्तर नही रहता। आत्मा अपनी उपाधियाँ छोडकर परम सत्ता मे वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्र-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

(जैसे निरन्तर वहती हुई सरिताएँ नाम रूप त्यागकर समुद्र मे विलीन हो जाती है।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है। सारा ससार उसी से आलोकित है।)

उपर्युक्त पक्तियाँ हमे कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखौ तित लाल' का स्मरण करा देती है।

वह परम सत्ता निकट होकर भी दूरी का भास देती है।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति
दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च।
—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान् होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर मे अत्यन्त समीप भी है।)

जायसी ने 'पिय हिरदै महँ भेट न होई' मे जो कुछ व्यक्त किया है, उसे बहुत पहले उपनिषद्काल का मनीषी भी कह चुका था। वेद का सर्ववाद भी उपनिपदो के चिन्तन मे विशेष महत्त्व रखता है—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-

ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए है, इसी से अनेक रूपवाली नदियाँ प्रवाहित है। ·)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः।

—मु० उप०

(वही सत्य है। उसी ज्योतिर्मय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं जैसे प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रो स्फुलिंग।)

रहस्यवादियो ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच मे माधुर्य भाव-मूलक सम्बन्ध की स्थापना के लिए, उन दोनो मे पुरुष और नारी-भाव का आरोप किया है। इस कल्पना की स्थिति के लिए जो धरातल आवश्यक था, वह तत्त्वचिन्तक द्वारा निर्मित हुआ है। साख्य ने जडतत्त्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विकार-शून्य चेतन तत्त्व को पुरुष की सज्ञा दी है, अत इन सज्ञाओ ही मे इस प्रकार का अन्तर उत्पन्न हो गया, जो पुरुष और नारीरूप की कल्पना सहज कर दे। जडतत्त्व से उत्पन्न प्राणि-जगत् भी प्रजा और सृष्टि कहलाता रहा।

आत्मा अपने सीमित रूप मे जड मे बँधा है, अत प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण,वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थित होने लगा।

आत्मा को चिति के रूप मे ग्रहण करनेवाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी सज्ञाओ का प्रयोग करने लगे।

इय कल्याण्यजरा मृत्यस्यामृता गृहे।

—अथर्व

(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर मे अमृता नित्य है। ·)

ऋग्वेद के मनीषी भी कही कही अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधू का प्रयोग करते रहे है।

इस सम्बन्ध मे जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण है। जो सीमित है, वही असीम मे अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा। नदी समुद्र मे मिलकर अथाह हो जाती है;

परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक सम्भव नही, जब तक वह अपनी नाम-रूप आदि सीमाएँ समुद्र को समर्पित न कर दे।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि परिचय छोडकर पति का स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णत समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अत' नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम मे लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है। सगुण-भक्त द्वैत को लेकर चलता है। एक सीमा दूसरी सीमा मे अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। एक अपूर्ण व्यक्तितत्व दूसरे पूर्ण व्यक्तितत्व के स्पर्श का इच्छुक है। भक्त विवश सीमाबद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमाबद्ध है, पर है तो दोनो सीमाबद्ध ही। ऐसी स्थिति मे उनके बीच मे सभी मानवीय सम्बन्ध सम्भव है। पर माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध तो लौकिक प्रेम के बहुत समीप आ जाता है, क्योकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप मे, प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियो मे पूर्ण अभिव्यक्ति बन जाने की क्षमता रखता है।

दक्षिण की अन्दाल, उत्तर की मीरा, बगाल के चैतन्य आदि मे हमे कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते है। परन्तु स्थूल धरातल पर उतरकर माधुर्यभावमूलक उपासना हमे देवदासियो के विवश करुण जीवन और सम्प्रदायो मे प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकी, जो भक्ति की स्वच्छता मे मलिन धव्वे जैसे लगते है।

भारतीय रहस्यभावना मूलत बुद्धि और हृदय की सन्धि मे स्थिति रखती है। एक से यह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की थाह लेती है। यह समन्वय उसके भावावेग को बुद्धि की सीमा नही तोडने देता और बुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नही बाँधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की आँधी नही, वरन् ज्ञान के अनन्त आकाश के नीचे अजस्रप्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक बौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणो मे थके स्वर मे कहती है—अविज्ञात विजानताम् (जाननेवालो को वह ब्रह्म अज्ञात है), तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास भरे कण्ठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वय वही हो।)

बौद्ध और जैन मतो पर भी उपनिषदो की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नही रहा।

वेदान्त का, अहकार, मनस् और विज्ञान से शून्य आत्मन्, उस आत्मा से भिन्न है जो इनकी समष्टि है। चरम विकास के उपरान्त आत्मन् की शून्य व्यापकता, वौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाती है जो विकास-क्रम के अन्त मे वोधिसत्त्व (विकास-क्रम मे वँधे जीव) को एक शून्य स्थिति मे मुक्ति देता है। 'सर्वभूतहित' और 'मा हिंस्यात्' की भावना वुद्ध-मन की महामैत्री और महाकरुणा मे इतना विस्तार पा गयी कि वह चरम विकास तक पहुँचानेवाला सावन ही नही, उसका लक्षण भी वन गयी। अन्य मतो मे करुणा परमतत्त्व से तादात्म्य का माध्यम मात्र है, पर वुद्ध की विचारवारा मे वह परमतत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परमतत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती, वरन् वह वोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का सावन और उसके चरम विकास का परिचय है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही वोधिसत्त्व वुद्ध होता और निर्वाण तक पहुँचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुँचाने वाला यह भावजगत्, परमतत्त्व की व्यापकता मे अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विचित्र साम्य रखता है।

वौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दु ख का कारण मानता है, जो उपनिषदो मे मिलनेवाली अविद्या और काम के रूपान्तर है। अन्त.करण की शुद्धि को प्रधानता देनेवाले मनीषियो के समान वुद्ध ने भी कर्मकाण्ड को महत्त्व नही दिया, पर वुद्ध-मत का साधना-क्रम योग के साधना-क्रम से भिन्न नही रहा। ज्ञान के व्यापक स्पर्श को खोकर वौद्ध धर्म मे भी एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया, जो साधना-प्राप्त सिद्धियो का प्रयोग भौतिक सुख-भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया और ब्रह्म की एकता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विकास के उपरान्त वे शून्य या स्थिति के अभाव को न मानकर उसके व्यापक भाव को मानते हैं। जगत् मे सव जीवो मे ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरान्त जीव किसी परम-तत्त्व से तादात्म्य न करके स्वय असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है।

जैन धर्म का साधना-क्रम अन्त करण की शुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है।

नाम रूप मे सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता मे विश्वास करनेवाले इन मतो और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अश माननेवाले और उसमे अपनी लय को, चरम विकास समझनेवाले रहस्यवादियो मे जो समानता है, उसे साम्प्र-

दायिक विद्वेषो ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि मे घिरा है, दूसरा, धर्महीन दर्शन की परिभाषा मे बँधा है, पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिन्तन-परम्परा का पता देते है। जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता, सब जीवों के प्रति स्नेह, करुणा और मैत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दुख के प्रतीक स्वर्ग-नरक मे अनास्था, साधना का अन्तर्मुखी क्रम आदि, भारतीय तत्त्व-चिन्तन की अपनी विशेषताएँ है।

हमारे तत्त्वचिन्तको की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्मतम महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर लाती है, जो जीवन की स्थूल धरती पर बरस कर ही सार्थकता पाता है। हमारे यहाँ नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता हैं, जो कल्याण की खोज मे किसी भी बाधा को नही ठहरने देना चाहती, अत वह जीवन सम्बन्धी आस्था से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है।

पश्चिम मे प्लोटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्यभावना को जन्म और विकास दिया, वह ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव मे स्थिति रखती है। दूसरे शब्दो मे जगत् का तत्त्वरूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छाया रूप जगत्। ऐसी स्थिति मे आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति का चरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना-प्रधान रहस्यभाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमाण्टिक काव्य तक मिलता है। इस्लाम और ईसाई मतो पर भी इसकी छाया है, पर उन पर भारतीय रहस्य-चिन्तन का भी कम प्रभाव नही।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेष स्थिति रखता है। वह धर्म की परिधि मे उत्पन्न हुआ और वही रहा, अत स्वय एक सम्प्रदाय के भीतर सम्प्रदाय बन गया। धर्म और रहस्यभावना मे विरोध न होने पर भी वे एक नही हो सकते। धर्म बाह्य जीवन मे सामञ्जस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धान्त भी देता है और सबके कारणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्त्व देकर हमारे विश्वास मे प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अर्थ वहाँ से होता है जहाँ धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय मे, सामञ्जस्यमूलक परमतत्त्व की अनुभूति करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने प्रशान्त आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धता देती है। रहस्यवादी के लिए नरक, स्वर्ग, मृत्यु, अमरता, परलोक, पुनर्जन्म आदि का कोई महत्त्व नही। उसकी स्थिति मे केवल इतना ही परिवर्तन सम्भव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्त्व मे खो सके।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लॉटिनस (Plotinus) के उपरान्त डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्त्व पाते हैं, जिसने मध्ययुग के समस्त रहस्यचिन्तन को प्रभाविन किया है। यह रहस्यवादी होने के साथ-साथ ईसाईधर्म का विश्वासी अनुयायी भी था, अत. इनकी चिन्तन-पद्धति दोनो को समान महत्त्व देती चलती है।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कट्टरता ने मनुष्य मे किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नही स्वीकार किया था, जो परमात्मा से एक हो सके। डायोनिसियस भारतीय ऋषियो के समान ही, मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देखता है। यह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा, अत. दोनों का तादात्म्य सम्भव है। परमात्मा को आत्मा से एक कर देने का साधन प्रेम है। डायोनिसियस कहता है—'It is the nature of love to change a man into which he loves.' (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु मे बदल देता है, जिससे वह स्नेह करता है।)

परमात्मा के सम्बन्ध मे उसका मत है—'If any one sees God and understand what he sees he has not seen God at all.' (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्ट विषय का ज्ञान है, तब उसने उसे देखा ही नही।) हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते है—'यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेदस' (जिसको ज्ञात नही उसको ज्ञात है, जिसको ज्ञात है वह उसे नही जानता।)

स्वर्ग-नरक के सम्बन्ध मे उसके जो विचार है, वे भी रहस्यवादियो की विचार-परम्परा से साम्य रखते है—'To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven." (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है।)

एकहार्ट (Eckhart) भी आत्मा-परमात्मा की एकता और इस आत्मा मे, तादात्म्य सहज करनेवाली शक्ति की स्थिति मानता है—

"There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God.' (आत्मा की जागृति मे परमात्मा और आत्मा मे अन्तर नही रहता।)

माधुर्यभाव पर आश्रित और धर्म-विशेष मे सीमित इस रहस्यवाद ने एक ऐसी उपासना-पद्धति को जन्म दिया, जिसमे उपासक, वधू के रूप मे आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इस आध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक

और उपासिकाओ के लिए जो साधनाक्रम निश्चित था, उसका अभ्यास मठो के एकान्त मे ही सम्भव था। यह रहस्योपासना हमारी माधुर्यभावमूलक सगुणोपासना के निकट है। महात्मा ईसा की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नही और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपासक भक्त ही कहे जायँगे। आराध्य जब नाम-रूप से बँधकर एक निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का प्रश्न ही नही रहा।

पश्चिम के काव्य मे मिलनेवाली रहस्यभावना उस प्रकृतिवाद से सम्बन्ध रखती है, जिसमे प्रकृति का प्रत्येक अग सजीव और स्वतन्त्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप मे सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नही है, क्योकि रहस्य मे प्रकृति की खण्डश सजीवता एक व्यापक परम तत्त्व की अखण्ड सजीवता पर आश्रित रहती है, जो आत्मा का प्रेय है। सजीव जन्तुओ का समूह शरीर नही कहा जायगा, पर जब अनेक अग एक की सजीवता मे सजीव हो तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति मे रहता है। ब्लेक और वर्डस्वर्थ जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी है और दूसरी ओर जगत् और ब्रह्म के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्यभावना मे परम तत्त्व मे आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नही और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेमभाव की स्थिति भी कठिन है।

सूफियो का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्यचिन्तन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेश्वरवाद मे भाव की क्रीडा के लिए स्थान नही। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नही कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अत. हृदय का भाववेग सहस्र-सहस्र धाराओ मे फैलकर मानवीय सम्बन्धो को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य मे मिलन-विरह सम्बन्धी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चिन्तनपद्धति के समान वहाँ तत्त्वचिन्तन का क्षेत्र इतना विस्तृत नही हुआ था, जिसमे मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छन्द छोड सके। ससार और उसमे व्याप्त सत्ता के सम्बन्ध मे कोई जिज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होने पर उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती थी। धर्म की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर शासन होने के कारण, ऐसी अनुभूतियाँ वहाँ प्रवेश नही पा सकती थी और लौकिक प्रेम की सकीर्ण परिधि मे स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति सम्भव नही रहती थी।

हमारे कर्मकाण्ड की एकरसता के विरोध मे जैसे भावात्मक ज्ञानवाद का

विकास हुआ, धर्मगत शुष्कता की प्रतिक्रिया मे वैसे ही सूफियो के दर्शनात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वेदान्त ने इन्हे बहुत प्रभावित किया, क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनो के लिए ऐसा क्षितिज खोल देता है, जिसमे व्यापकता भी विविध रंगमयी है।

यहाँ के तत्त्वचिन्तको के समान सूफी भी हक, वन्दा और शैतान के रूप मे परमात्मा, आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करते है।

'तद्भावगतेन चेतसा' के द्वारा मनीषियो ने जो संकेत किया है, उसको सूफियो मे अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रेमतत्त्व के द्वारा सूफी परम आराध्य से एक हो सकता है। 'स यो ह वै तत्पर ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (जो निश्चयपूर्वक उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हमे सूफी अत्तार के शब्दो मे मिलती है—'प्रेम मे मै और तू नही रहते। अह प्रेम के आधार मे लय हो जाता है।'

इसी प्रकार शब्सतरी का कथन है—'मै और तू मे कोई अन्तर नही। एकता मे किसी प्रकार का अन्तर होता ही नही है। जिसके हृदय से द्वैत निकल गया, उसकी आत्मा से 'अहम् ब्रह्मास्मि' की ध्वनि गूँजने लगती है।' परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियो के समान ही रूमी वियोग के सम्बन्ध मे कहता है 'जो पुरुष अपने मूल तत्त्व से छूट गया है, उसको उससे पुर्नमिलन की चिन्ता रहती है।'

'ये एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' (यह जो हृदय के भीतर का आकाश है वह (ब्रह्म) उसी मे सोता है) को तत्त्वत ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना-विधान की आवश्यकता नही रही। पर अन्त.शुद्धि के लिए दूसरी अन्तर्मुखी साधना-पद्धति का विकास होना अनिवार्य हो गया। योग के साधनात्मक रहस्य-वाद ने सूफियो की साधना-पद्धति को विशेष रूप-रेखा दी है। तुरीयावस्था तक पहुँचने के पहले आत्मा की अवस्थाएँ, समाधि तक पहुँचने के पूर्व साधना का आरोह-क्रम आदि का जैसा रहस्यात्मक विस्तार योग मे हुआ है, उसी को सूफियो ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रेय हमारे तत्त्वदर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नही पा सका।

सूफ (सफेद ऊन) का वस्त्र पहननेवाले इन फकीर रहस्यद्रष्टाओ की स्थिति हमारे मनीषियो से भिन्न रही। इन्हे बहुत विरोध का सामना करना पडा, जो इस्लाम धर्म का रूप देखते हुए स्वाभाविक भी था।

वहाँ 'अनलहक' कहनेवाला धर्म का विरोधी बनकर उपस्थित होता है, पर यहाँ 'अह ब्रह्मास्मि' पुकारनेवाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योकि हमारे यहाँ ब्रह्मरूप श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरम विकास है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा असामाजिक प्राणी न माना जाकर सबका परम आत्मीय माना गया। सूफी सन्तो की परिस्थितियो ने उन्हे लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकान्तिक विकास पाने दिया, इसी से हमारे तत्त्व-चिन्तक बाहर के विरोधो की चर्चा नही करते, पर सूफियो की रचनाओ मे लोक-कठोरता का व्योरा भी मिलता है।

परन्तु इन्ही कारणो ने सूफियो के काव्य को अधिक मर्मस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिन्तन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उसमे तादात्म्य की इच्छा को विशुद्ध भावभूमि पर ही स्थापित किया, अतः उनके विरह-मिलन की साकेतिक अभिव्यक्तियाँ अपनी अलौकिकता मे भी लौकिक है।

हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद वहाँ से आरम्भ होता है, जहाँ दोनो ओर के तत्त्व-दर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नही, एक सीमित धरती पर भी साथ खडे हो सके। अत दोनो ओर की विशेषताएँ मिलकर गगा—यमुना के सगम से बनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती है। इस काव्यधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत तुषार-धवल उन्नत चोटियाँ है और आगे भाव की हरीभरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरन्तर गतिमय नवीनता मिलती रह सकी।

भारतीय रहस्यचिन्तन मे एक विशेषता और है। उसके समर्थक हर बार क्रान्ति के स्वर मे बोलते रहे है। रूढ़िग्रस्त धर्म, एकरस कर्मकाण्ड और बद्धमूल अन्धविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम है, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल है और विचारो मे कितने मौलिक है, इसे उपनिषद् काल की विचारधाराएँ प्रमाणित कर सकेगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता सम्भव ही नही, जो सत्य पर आश्रित न हो।

धर्म की दुर्लंध्य प्राचीरे और कर्मकाण्ड की दुर्गम सीमाएँ पार कर मुक्त आकाश मे गूँजनेवाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हमे चौका देता है—

> यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
>
> ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतो मे उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है, उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रान्ति कैसी, खिन्नता क्यो! )

बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदर्शक जीवन की यथार्थता नही भूलता, अत. इसी उपनिषद् मे 'कुर्व्वन्नेवेहि कर्माणि जिजीविषे'.. .आदि में हम पाते है—'यहाँ कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। हे मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले ! तेरे लिए अन्य मार्ग नही है, नही है।'

रूढियाँ यदि अचल हैं, तो रहस्यदर्शको के स्वर मे शत-शत निर्झरो का प्रखर वेग है, जीवन यदि विषम है, तो उनकी दृष्टि मे अनन्त आकाश का सामञ्जस्य है और धर्म यदि सकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद मे समीर का व्यापक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) कहता है—

'In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads....They are a product of the highest wisdom ..It is destined sooner or later to become the faith of the people."

(ससार मे उपनिषदो के समान उपयोगी और उदात्त बनानेवाला अन्य स्वाध्याय नही। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम है। आगे या पीछे यही जनता का धर्म होगा यह निश्चत है।)

हिन्दी के रहस्यवाद के अर्थ के साथ हमे कबीर मे ऐसे क्रान्ति-दूत के दर्शन होते है, जिसने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया, अपनी अशिक्षा को आलोक मे बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जडता को शत-शत स्पन्दनो से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सन्तो और सगुण-भक्तो मे विशेष अन्तर है। सगुण उपासक यदि प्रशान्त स्निग्ध आभा फैलानेवाला नक्षत्र है, तो रहस्यद्रष्टा, अपने पीछे आलोक-पुञ्ज की प्रज्ज्वलित लीक खीचने वाला उल्का-पिण्ड। एक की गति मे निश्चल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अत. हम इच्छानुसार आँखे ऊपर उठाकर उसे देख भी सकते है और अनदेखा भी कर सकते है। परन्तु दूसरा हमारे दृष्टिपथ मे ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उसकी ज्योतिर्मय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को बलात् खीच लेती है। उसके विद्युत् वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और सुविधा की अपेक्षा नही करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनता और पथ बताता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक कही दूर अन्धकार मे खडा होकर पुकारता है—चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है।

युगो के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियो ने भी इस विचारधारा का विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होने उस परम्परा को अक्षुण्ण रक्खा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातो के उपरान्त भी उनमे कोई दीनता नही, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नही और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नही।

सम्भवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे के हाथ मे नही रहता—भारतीय तत्त्वदर्शन ऐसा ही पारस रहा है।

# गीति-काव्य

● ●

मनुष्य के सुख-दु ख जिस प्रकार चिरन्तन है, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरन्तन रही है; परन्तु यह कहना कठिन है कि उन्हे व्यक्त करने के साधनो मे प्रथम कौन था।

सम्भव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिडिया आनन्द मे चहचहा उठती है, और मेघ को घुमडता-घिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहले अपने भावो का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया हो। विशेष कर स्वर-समाञ्जस्य मे बँधा हुआ गेय काव्य मनुष्य हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त-अनुदात्त स्वरो मे बँधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणो मे समा जाननेवाले प्राकृत-पदो के अधिकारी हम भली-भाँति समझ सके है।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य का भी अधिकाश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिदर्शन सगीत की मधुरता मे बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का बिखरा इतिहास भी गीतमय है और मीरा की व्यथासक्ति पदावली तो सारे गीत-जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।

सुख-दु ख के भावावेगमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दो मे स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमे कवि को सयम की परिधि मे बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नही, कारण हम प्राय भाव की अतिशयता मे कला की सीमा लाँघ जाते है और उसके उपरान्त, भाव के सस्कारमात्र मे मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ-

दु खातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमे सयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है जिसमे सयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत सयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ नि श्वास मे भी है जिसमे सयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नही रहने देती ओर उसका प्रकटीकरण नि स्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय वन जाती है।

वास्तव मे गीत के कवि को आर्त्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ नि श्वास मे छिपे हुए सयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय मे उसी भाव का उद्रेक करने मे सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दु ख ध्वनित कर सके, तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु वन जाती है, इसमे सन्देह नही। मीरा के हृदय मे वैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके वाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना मे सयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अत: उसका—'हेली मै तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय', सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार, उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की वात नही।

सूर का सयम भावो की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है, परन्तु कथा इतनी पराई है कि हम बहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते है, बहते नही और प्रात स्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मन्दाकिनी कहे जा सकते है, हमारी कभी गँदली कभी स्वच्छ वेगवती सरिता नही। मनुष्य की चिरन्तन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा मस्तक श्रद्धा से, नम्रता से नत हो जाता है, परन्तु प्राय हृदय कातर क्रन्दन नही कर उठता। इसके विपरीत कबीर के रहस्य भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते है। अधिकतर हममे उनके विचार ध्वनित हो उठते है, भाव नही, जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्तिप्रधान भावात्मक काव्य का वही अश अधिक से अधिक अन्तस्तल मे समा जानेवाला, अनेक भूले सुख-दुखो की स्मृतियो मे प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमे कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सयत रूप मे व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने मे सफल हो सका हो। केवल सस्कारमात्र भावात्मक

कविता के लिए सफल साधन नही है और न किसी तीव्र अनुभूति की उतनी ही तीव्र मानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओ मे सुलभ मानी जा सकती है।

हिन्दी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्तिप्रधान जीवन हमे काव्य के किसी और अग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नही देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए ससार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते है, अपने प्रत्येक कम्पन को अकित करने के लिए उत्सुक है और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल है। सम्भव है, यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमे कवि का आदर्श अपने विषय मे कुछ न कहकर ससार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।

इस युग के गीतो की एकरूपता मे भी ऐसी विविधता है, जो उन्हे बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इनमे कुछ गीत मलयसमीर के झोके के समान हमे बाहर से स्पर्श कर अन्तर तक सिहरा देते है, कुछ अपने दर्शन के बोझिल पखोद्वारा हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किसी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते है और कुछ मन्दिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुँधला, परन्तु मन को सुरभित किये बिना नही रहते।

काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियो के बीच मे गीतिमुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है, जो न उनसे दबकर टूटता है और न बँधकर रुकता है, प्रत्युत् हर किरण से रगस्नात होकर उन्नत चोटियो का शृगार कर आता है और हर झोके पर उड-उडकर उस विशालता के कोने-कोने मे अपना स्पन्दन पहुँचाता है।

साधारणत गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीति-पद तक अपनी सवेदनीयता के लिए, व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते है। अलौकिक आत्मसर्पण हो या लौकिक स्नेहनिवेदन, तात्कालिक उल्लास-विषाद हो या शाश्वत् सुख-दुखो का अभिव्यञ्जन, प्रकृति का सौन्दर्य-दर्शन हो या उस सौन्दर्य मे चैतन्य का अभिनन्दन, सब मे गेयता के लिए हृदय अपनी वाणी मे ससार -कथा कहता चलता है। ससार के मुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है, गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग मे से जा रहे है, जो हृदय को मासल यन्त्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारो की पद्धति मात्र समझता है, फलत गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता मे ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नही सँभाल सकता ; पर तर्क से परे इन्द्रियो की सहायता के विना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति मे गेय स्वर-सामञ्जस्य का विशेष महत्त्व रहा है। वेद-गीतो के विश्वचिन्तन से सन्तो के जीवन-दर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-परम्परा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नही। इसी कारण वेदकालीन मनीषियो का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगो मे सम्भव न हो सकी।

रहस्य-गीतो का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है, पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियो मे इस प्रकार घुल-मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गयी। भावो के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखण्ड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कही रगीन, कही सिता-सित, कही सघन, कही हल्के, कही चाँदनीधौत और कही अश्रुस्नात बादलो से छाये आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनन्त रूपात्मकता के किसी भी खण्ड पर ठहरा कर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अत. आनन्द और विषाद की मर्मानुभूति के साथ साथ, उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतो मे निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सन्तुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतो मे आवश्यक नही, क्योकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे, तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे, तो हृदय उसे अपनी सीमा मे न रख सकेगा। रहस्य-गीतो मे आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते है।

सगुणोन्मुख गीतो मे सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, इसी से कवि को बहुत अन्तर्मुख नही होना पडता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण-गायक अनेक रग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रँगता है, अत' वह उस निर्गुण-गायक से भिन्न रहेगा, जिसके पास रग एक और चित्रपट शून्य असीम है। एक की निपुणता रगो के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओ की चिर नवीन अनन्तता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है, तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बँधी रहेगी, जैसे दीप की लौ से आलोक-मण्डल और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्मनिवेदक

है, तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाएँ वैसे ही फूटती रहेगी, जैसे अनन्त समुद्र मे हिलोरे।

वास्तव मे सगुण-गीत मे जीवन की विस्तृत कथात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोक-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और उसकी भावो की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नही, पर उसकी सरल सवेदनीयता की सब सीमाओ तक उसकी पहुँच रहती है। हमारी गीत-परम्परा विविधरूपी है, पर उसका वही रूप पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली सुखदु खात्मक अनुभूति ही रहेगी। परन्तु अनभूति मात्र गीत नही, क्योकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणत गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुखदु खात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।

पिछली दु खरागिनी का वायुमण्डल और आज की दु ख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य संसार की कठोर सीमाओ और अन्तर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दु ख को एक अन्तर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसे दु ख प्राय जीवन के आन्तरिक सामञ्जस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलत. उसकी सवेदनीयता मे गीत की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।...

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर सकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट सवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दु ख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अत समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामञ्जस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नही कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे मे वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणो मे भोजन की इच्छा नही, उनमे एक व्यक्ति के लिये अन्य दु ख, चिन्ता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्यथा की नही। परन्तु उन्ही परिस्थितियों में यह अनुभूति तब

स्वाभाविक हो जायगी, जब वह दूसरे बुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आँखो से दूर बाहर गानेवाले की करुण रागिनी हममे प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दु ख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन मे भी हमारे भौतिक अभाव उन्ही को अधिक स्पर्श करते है, जो हमारे निकट होते है; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नही रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओ का विशेष मूल्य नही।

लक्ष्यत एक होने पर भी अन्तर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नही स्वीकार करता। उसमे हमे अपनी गहराई मे दूसरो को खोजना पडता है और इसमे दूसरो की अनेकता मे अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखे भर लाने के लिए हमे अपने आँसुओ मे डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरे के डबडबाये हुए नेत्रो की भाषा समझने के लिए हमे अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दु ख मे डुबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दु ख मे अपने दु ख को मिलाकर बोलता है, तब उसके कण्ठ मे दो का बल होगा, जब तीसरा, उन दोनों के दु ख मे अपना दु ख मिलाकर बोलता है, तब उसके कण्ठ मे तीन का बल होगा। और इसी क्रम से जो असंख्य व्यक्तियो के दु ख मे अपना दु ख खोकर बोलता है, उसके कण्ठ मे असीम बल रहना अनिवार्य है।

अन्तर्जगत् मे यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुँचती है। सफल गायक वही है, जिसके गीत मे सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भावतीव्रता मे दूसरो को अपने सुख-दुख की प्रतिध्वनि सुन पडे और यह तब स्वत. सम्भव है, जब गायक अपने सुखदुखो की गहराई मे डूबकर या दूसरे के उल्लास-विषाद से सच्चा तादात्म्य कर गाता है।

भारतीय गीति-परम्परा आरम्भ मे ही बहुत समृद्ध रही, अत उसका प्रभाव सब युगो के गीतों को विविधता देता रह सका। ऐसा गीति-साहित्य जिसने सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति-रूपो की अनन्तता और भाव का बहुरगी जगत् सँभाला हो, आगत काव्य-युगो पर प्रभाव डाले बिना नही रहता।

तत्त्व की छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहाँ वाणी को बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पन्दन मिल सका। इसी से उच्चारण मे एक वर्ण की भूल अक्षम्य और ध्वनि मे एक कम्पन की त्रुटि असह्य हो उठती थी।

पावका नः सरस्वती वाजे वाजिनवती

. .. ..................

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना

ऋग्वेद १-३-१०, १२

(हमारी वाणी पवित्र करनेवाली और ऐश्वर्य्यमती है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुँचाने मे समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप मे शब्द को ब्रह्म की सज्ञा तक पहुँचाने मे सहायक हुई। गीत की शक्ति वाणी से अधिक थी, क्योकि वह शब्दो के चयन को, लय मे सन्तरण देकर उनकी व्यापकता और बढा देता था। इसी से पूरा सामगान / जीवन-समुद्र पर, लय का लहराता हुआ पाल बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

'गीर्भि वरुण सीमहि' (हे मेरे वरणीय! मैं गीत से तुम्हे बाँधता हूँ) इतना ही नही गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेमं नः स्तोमया गह्युपेदं सवनं सुतम
गौरो न तृषितः पिब। ऋ० १-१६-५

(प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीतमे तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो।)

तत्त्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता, सौन्दर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतो को बहुत समृद्ध कर देते हैं। चिन्तन के अधिक विकास ने गीत के स्थान मे गद्य को प्रधानता दी, पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपो मे फैलता रहा।

बौद्धधर्म जीवन की विषमता से उत्पन्न है, अत. दु खनिवृत्ति के अन्वेषको के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्मम रहा, पर उसकी विशाल करुणासिक्त पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से सुरभित और दु ख के नीहारकणो से बोझिल हैं। वैयक्तिक विरागभरी थेरगाथएँ और सौन्दर्य की करुण कथाएँ कहनेवाली थेरीगाथाएँ, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद-गीत और काव्य-गीतो के बीच की कडी जैसी लगती है।

विशेषत. निवृत्तिप्रधान गाथाओ से वैराग्य-गीतो को बहुत प्रेरणा मिल सकी। इन वीतराग भिक्षुओ का विहग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशान्त अनुराग वेदकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है।

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहंगमा,
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।
थेरगाथा—११३६

(जब तुम वन मे ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवावाले सुन्दर शिखा-शोभी तथा शोभन चित्रित पखो से युक्त आकाशचारी विहगम अपने सुमधुर कलरव द्वारा, घोपभरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हे आनन्द देगे।)

यदा बलाका सुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं।
थेर० ३०७

(जब ऊपर (आकाश मे) श्याम घनघटा से सभीत वगुलो की पॉत अपने उज्ज्वल श्वेत पंख फैलाकर आश्रय खोजती हुई बसेरे की ओर उड चलती है, तव (नीचे उनका प्रतिविम्ब लेकर प्रवाहित ) अजकरणी नदी मेरे हृदय मे प्रसन्नता भर देती है।)

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं।
दुमानि फल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसो पवन्ति,
पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर।
थेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अंगारारुण वृक्षो ने फल की साध से जीर्णशीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है। अव वे लौ से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे है। हे वीर-श्रेष्ठ! हे तथागत! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है।

द्रुमाली फूलो के भार से लदी है, सब दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी है और फल को स्थान देने के लिए दल झड रहे है। हे वीर! यह हमारी यात्रा का मगल मुहूर्त है।)

भिक्षुणियाँ भी अपने नश्वर सौन्दर्य का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम वनाती है—

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।
काननम्हि वनखण्डचारिणी कोकिला व मधुरं निकूजितं,
तं जराय खलितं तहिं तहिं सच्चवादि वचनं अनञ्ञथा।
थेरीगाथा २५२-६१

(भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काले और घुँघराले मेरे अलकगुच्छ जरा के कारण आज सन और वल्कल जैसे हो गये है। (परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है) सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नही।

वनखण्ड मे सञ्चरण करती हुई कोकिला की कुहुक के समान मधुर मेरे स्वर का सगीत आज जरा के कारण टूट-टूटकर बेसुरा हो रहा है। (ध्वंस का क्रम इसी प्रकार चलता है) सत्यवादी का यह कथन अन्यथा नही)।

सस्कृत-काव्य मे क्रौञ्च की व्यथा से करुणार्द्र ऋषि गा नही उठा, जीवन के तार सँभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारो की झकार सुनती रही। पर काव्य का राग जबमौन हो जाता है, तब लोक उस लय को सँभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नही हो सकती। सस्कृत नाटको और प्राकृत काव्यो मे जो गीत है, वे तत्कालीन लोक-गीत ही कहे जायँगे। यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और सरल मधुर शब्दावली के द्वारा प्रकृति और जीवन के बडे सहज सुन्दर चित्र अकित कर सके है।

भाव की मर्मिकता तथा अभिव्यक्ति की सरल शैली की दृष्टि से हिन्दी गीतिकाव्य प्राकृत-गीतो का बहुत आभारी है—

**एक्ककक्कमपरिक्खणपहार सँमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।**
**वाहेण मण्णुविअलन्तबाह धोअं धणुं मुक्कम्॥**
**गाथा सप्तशती ७-१**

(मृग-मृगी के जोडे मे से जब प्रत्येक दूसरे को बाण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामने आने लगा, तब करुणार्द्र व्याध ने आँसुओ से धुला धनुष रख दिया।)

**खरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स।**
**धुक्काधुक्कईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स॥**
**गाथा० ६-८३**

(जब प्रचण्ड पवन ने उसे गला पकडकर पर्वतशिखर से नीचे फेक दिया, तब छिन्न-भिन्न शरीरवाले काले मेघ के भीतर विद्युत् प्राण के समान धुकधुका उठी।)

**उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।**
**णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ संख-सुत्ति व्व॥**
**गाथा० १-५**

(देखो कमल के पत्र पर बलाका (बकी) कैसी निश्चल नि स्पन्द बैठी है। वह तो निर्मल मरकत के पात्र मे रक्खी हुई शखशुक्ति जैसी लगती है।)

इस प्रकार के, कही करुण, कही सजीव और कही सुन्दर चित्रो की सरल मार्मिकता ने हमारे लोक-गीतो पर ही नही, पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है।

हिन्दी गीति-काव्य मे भारतीय गीति-परम्परा की मूल-प्रवृत्तियो का आ जाना स्वाभाविक ही था। तत्त्व-चिन्तन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौन्दर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दु खो की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतो को विविधता भी दी है और व्यापकता भी।

कवीर के निर्गुण-गीतो ने ज्ञान को फिर गेयता देने का प्रयास किया है।

'मै तै तै मै ए द्वै नाही। आपै अघट सकल घट माँही।' जैसे पदो मे वेदान्त मुखरित हो उठा है और—

'गगन-मँडल रवि ससि दोइ तारा। उलटी कूँची लागि किवारा।' आदि चित्रो मे साघनात्मक योग की रूप-रेखाएँ अकित है।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन-रहस्यो का उद्घाटन भी हमारे तत्त्व-चिन्तन मे बहुत विकसित रूप पा चुका था।

कबीर की

**पॉच सखी मिलि कीन्ह रसोई एक ते एक सयानी,**
**दूनो थार बराबर परसै जेवै मुनि अरु ज्ञानी॥**

आदि पक्तियो मे व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है, यह तब प्रकट होता है, जब हम उन्हे अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते है—

**तन्त्रमेकं युवती विरूपे अभ्याक्राम वयतः षण्मयूखम्।**
**प्रान्या तन्तूस्तिरति धत्ते अन्या नापवञ्जाते न गमातो अन्तम्॥**

(दो गौर श्याम युवतियाँ (उषा रात्रि) क्रम से बार-बार आ-जाकर छ खूँटीवाले (ऋतुओवाले) जाल को (विश्वरूप को) बुनती है। एक सूत्रो को (किरणो को) फैलाती है, दूसरी गॉठती (अपने मे समेट लेती) है, वे कभी विश्राम नही करती, पर तो भी कार्य की समाप्ति तक नही पहुॅच पाती।)

निर्गुण-उपासक तत्त्वद्रष्टा ही नही, तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अत उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उल्लास-विषाद बन जाता है। प्रकृति वहाँ एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अत उसके सौन्दर्य मे सौरभ जैसा स्पर्श है, जो प्रत्येक का

होकर भी किसी एक का नही वन सकता और भाव मे आलोक जैसा रग है, जो किसी वस्तु पर पडकर उससे भिन्न नही रहता।

निर्गुण-गायक अपने सुखदु खो की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य वनाता है और सगुण-गायक अपने सुखदु खो को गहराई देकर उन्हे सवका वनाता है। एक ज्ञान के लिए हृव्यवादी है, दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतो का आवार सौन्दर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केन्द्र-विन्दु वन गया है, अत. भावो की शवलता और रूपो की विविधता उसे घेरकर ही सफल हो सकती है। सस्कृत काव्यो के समान ही, इन चित्र और भाव गीतो मे प्रकृति विविध-रूपी है। कही वह अपनी स्वतन्त्र रूपरेखा मे यथार्थ है, कही हृदय के हर स्वर मे स्वर मिलाने वाली रहस्यमयी सगिनी है, कही मनुप्य के स्वानुभूत सुख-दु खो की मात्रा वताने का साधन है और कही आराध्य के सौन्दर्य, शक्ति आदि की छाया है।

**वरसत मेघवर्त धरनी पर।**
**चपला चमकि चमकि चकचौंधति करति सबद आघात,**
**अन्धाधुन्ध पवनवर्तक घन करत फिरत उत्पात।**
**—सूर**

उपर्युक्त गीत मे मेघ की चित्रमयता यथार्थ है, पर जव घटा देखकर विरह-व्यथित मीरा पुकार उठती है—

**मतवारो वादल आयो रे,**
**मेरे पी को सँदेसो नहिं लायो रे।**

तव हमे वादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साकारता मिलती है, जो मेघदूत के मेघ मे यक्ष ने पाई थी। 'निसिदिन वरसत नयन हमारे' मे वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या वनकर उपस्थित होती है और 'आजु घन श्याम की अनुहारि' जैसी पक्तियो मे मेघ कृष्ण की छाया से उद्भासित हो कृष्ण जैसा वन गया है। स्वानुभूति-प्रधान इन गीतो ने हृदयगत मर्म को चित्रमयता और वाह्य प्रकृति-रूपो को व्यापकता दी है।

इनकी स्वरलहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई मे कितने स्थायी रूप से वस गयी है, इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनो देते हैं।

भारतेन्दु-युग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है, जिसमे सभी प्रवृत्तियाँ अकुरित हो उठी है, अत गीत भी किसी भूली रागिनी के समान मिल जाते है तो

आश्चर्य नही। ये गीत स्वतन्त्र अस्तित्व न रखकर गद्य-रचनाओ के बीच मे आये है, इसलिए विषय, भाव आदि की दृष्टि से इनका कुछ बँधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमे कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलेगी जो अतीत और वर्तमान गीति-मुक्तको को जोडने मे समर्थ है। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्बोधन, और सामाजिक धार्मिक विकृतियो के प्रति व्यग, भारतेन्दु के गीतो को विविधता देते है।

भई आधि राति बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई जनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन।

उपर्युक्त प क्तियो मे रात की रेखाओ मे नि स्तब्धता का रग है; पर जहाँ कवि ने प्रकृति के सम्बन्ध मे परम्परा का अनुसरण मात्र करना चाहा, वहाँ वह सजीव स्पन्दन खो गया-सा जान पडता है—

अहो कुञ्ज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों,
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसो!

भाव-गीतो मे सगुण-निर्गुण गीतो की शैली ही नही, कल्पना का भी प्रभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।

............. .......

नैनन मे पुतरी करि राखौ पलकन ओटि दुराय,
हियरे में मनहूँ के अन्तर कैसे लेउ लुकाय।

तत्कालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के ज्ञान ने व्यगमय यथार्थ-चित्रो और विषादभरे राष्ट्र-गीतो को प्रेरणा दी है—

घन गरजै जल बरसै इन पर विपति परै किन आई,
ये बजमारे तनिक न चौंकत ऐसी जड़ता छाई।

. . . . . . . . . . . . . . . . . . .

भारत जननी जिय क्यों उदास,
बैठी इकली कोउ नाहि पास।
किन देखहु यह ऋतुपति प्रकास,
फूली सरसो वन करि उजास।

पृथ्वी की मातृरुप में कल्पना हमारे बहुत पुराने संस्कार से सम्बन्ध रखती है। अथर्व का पृथ्वीगीत चित्रमय और यथार्थ होने के साथ साथ मातृवन्दना भी है —

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिविस्योनमस्तु।
. . . . . . . . . . . . . . . . . .
पवस्य माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या।

(ये तेरे पर्वत और तुषार से आच्छादित तुग शिखर, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हो। हे मातृ-भू! तू मुझे पवित्र कर, मै पृथिवी का पुत्र हूँ।)

खडी वोली के आरम्भ मे जीवन, प्रकृति, नीति, राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक, लिखे गये, परन्तु उनमे गेयता के लिए स्थान कम था। वास्तव मे गीत सरल, मधुर परिचित और प्रयोग से मँजी हुई शब्दावली से आकार और भाव-तीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा के आदियुग मे गीत के रूप और प्राण को सामञ्जस्य पूर्ण स्थिति न मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी धरती और आकाश से इस प्रकार वंधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशीय भाषा मे गा नही पाता।

खडी वोली के गीत हमे प्रवन्ध-काव्यो मे तव प्राप्त हुए, जव उससे हमारा हृदय परिचित हो चुका था, भाषा मँज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका था। शुद्ध संस्कृत शब्दावली और उसके वर्णवृत्त अपनाने वाले कवियो पर संस्कृत-काव्यो का प्रभाव होना अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से सहानुभूति न रखने के कारण इन कवियो ने संस्कृत काव्यो की वह शैली अपनायी जिसमे प्रकृति की रेखाएँ स्पष्ट, सरल और जीवन के रग जाने-पहचाने से लगते है। 'साकेत' मे चित्रकूट की वनवासिनी सीता

किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं।
. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .
तृण तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

गाकर प्रकृति का जो शब्दचित्र उपस्थित करती है, उसकी रेखा रेखा हमारी जानी-बूझी है। इसी प्रकार विरहिणी उर्मिला—

न जा अधीर धूल में,
दृगम्बु आ दुकूल में!
. . . . . . . . . . . .
तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में मोती!

आदि मे अपनी व्यथा को जो ध्वनिमय साकारता देती है, उससे भी हमारा पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्म-गीत ही नही, कवि के रहस्य-गीत भी सरल शब्दावली और परिचित भावो के कारण इतने ही निकट जान पडते है। इनमे तीव्र भावावेग नही, जीवन का स्वाभाविक उच्छ्वास है, जो कभी-कभी अतिपरिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सवेरा है, अत. उसके प्रभाती गीतो की सुनहली आभा पर आँसुओ की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देनेवाले इन सुख-दु ख भरे गीतो के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो वहुत था, पर उसके कर्माडिम्बर मे सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-सस्कृति सम्बन्धी आदर्शो और विश्वासो को एक पग मे नापने के लिए, जिज्ञासा वामन से विराट् हुई जा रही थी। बहुत दिनो से शरीर का शासन सहते-सहते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन सभ्यता हमे प्रकृति से इतनी दूर ले आयी थी कि पुराना रूप-दर्शन जनित सस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेन्दु-युग की विपादभरी ध्वनि—

'अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा' ने असख्य प्रतिध्वनियाँ जगाकर हमे अन्तिम बार अपने जीवन की सूक्ष्म और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनन्द से मनुष्य जव चचल होता है, तव भी गाता है और व्यथा से जव हृदय भारी हो जाता है, तव भी गाता है, क्योंकि एक उसके हर्ष को वाहर फैलाकर जीवन को सन्तुलन देता है और दूसरा उसकी नि स्तब्धता मे सवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन को गतिरुद्ध होने से वचाता है।

गत महायुद्ध की तमसा के विषाद भरे प्रभात मे रुधिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाग देखकर कवि के हृदय मे प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—जीवन क्या विषम खण्डो का समूह मात्र है, जिसमे एक खण्ड दूसरे के

विरोध में ही स्थिति रक्खेगा? हृदय क्या मासल यत्र मात्र है, जिसमे परस्पर पीड़ा पहुँचाने के साधनो का ही आविष्कार होता रहेगा? प्रकृति क्या लोहगार मात्र है, जिसमे एक दूसरे को क्षत-विक्षत करने के लिए अमोघ अस्त्र-शस्त्र ही गढ़े जायँगे?

भारतीय कवि को उसके सब प्रश्नो का उत्तर जीवन की उसी अखण्डता मे मिला, जिसकी छाया मे लघु-गुरु, कोमल-कठोर, कुरूप-सुन्दर सब सापेक्ष बन जाते है।

जीवन को जीवन से मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उसने वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया, जो सबकी मुक्ति मे उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप एकता के सम्बन्ध मे छायायुग के प्रतिनिधि गायकों के स्वर भिन्न पर राग एक है—

अपने सुख-दुख से पुलकित,
यह मूर्त्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य सतत चिर सुन्दर!

—प्रसाद

जिस स्वर से भरे नवल नीरद
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद्
जिस स्वर वर्षा ने भर दिये सरित-सर-सागर
मेरी यह धरा हुई धन्य भरा नीलाम्बर!
वह स्वर शर्मद उनके कण्ठो में गा दो!

—निराला

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व मे पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित-विलास
शान्त अम्बर मे नील विकास;

—पन्त

जीवन मे सामञ्जस्य को खोजनेवाले कवि ने बाह्य विभिन्नता से अधिक अन्तरतम की एकता को महत्व दिया और आधुनिक युग के मनुष्य-निर्मित आश्चर्यों के स्थान मे प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया।

तत्त्वगत एकता और सौन्दर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतो के निराकार को अनन्त रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृति-गीतो के सौन्दर्य को भाव के निरन्तर श्वासोच्छ्वास मे विस्तार दिया।

सगीत के पखो पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविधरूपी हो उठे। स्वानुभूत सुख-दु खो के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौन्दर्य को सजीवता देनेवाले चित्रगीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गयी।

पर इस भावगत सर्ववाद मे इतिवृत्तात्मक यथार्थ की स्थिति कुछ कठिन हो जाती है। छायावाद की रूप-समष्टि मे प्रकृति और जीवन की रेखाएँ उलझकर सूक्ष्म तथा रग घुल-मिलकर रहस्यमय हो उठते है। इसके विपरीत इतिवृत्त को कठिन रेखाओ और निश्चित रगो की आवश्यकता रहती है, क्योकि वह केवल उसी वस्तु को देखता है, जिसका उसे चित्र देना है—आसपास की रूप-समष्टि के प्रति उसे कोई आकर्षण नही।

इसके अतिरिक्त गीत स्वय एक भावावेग है और भावावेश मे वस्तुएँ कुछ अतिशयोक्ति के साथ देखी जाती है। साथ ही गायक अपने सुख-दु खो को अधिक से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है, अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे।

इस प्रकार प्रत्येक गीत भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बँधा रहेगा। मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र मे जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते है, वैसे ही यथार्थ के लिए भाव मे ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए, जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत मे नही समा पाता।

छायावाद के गीतो का यथार्थ कभी भाव की छाया मे चलता है और कभी दर्शनात्मक आत्मबोध की।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनो की यथार्थ रेखाओ को एक रहस्य-मयता दे देती है—

> लख ये काले काले बादल,
> नील सिन्धु मे खुले कमल दल!
>
> —निराला

से मेघ रूप की जिस अनन्त समष्टि के साथ है—

> गहरे धुँधले धुले साँवले
> मेघों से मेरे भरे नयन;
>
> —पन्त

में मनुष्य भी उसी समष्टि मे स्थिति रखता है।

जीवन का तत्त्वगत भावन, वाह्य अनेकता पार कर अन्तर की एकता पर आश्रित रहेगा, अत.—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा विखर पड़ा है।
—प्रसाद

मृण्मय दीपों मे दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुपम।
—पन्त

जैसी अनुभूतियो मे यथार्थ की रेखाएँ घुल-मिल जाती हैं।

इतना ही नही—

पीठ पेट दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।

जैसी पक्तियो मे भिखारी की, जो यथार्थ रेखाएँ है, उनका कठोर वन्वन भी आत्म-वोध की अन्त फल्गु को वाहर फूट निकलने से नही रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अन्त मे कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय मे है अमृत मै सींच दूँगा।
—निराला

राष्ट्रगीतो मे भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया। भारतेन्दु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनैतिक विकृतियो के वीच मे देखा, अत· 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया। खडी वोली के वैतालिको ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के वीच मे प्रतिष्ठित कर 'सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर मूर्त्तिमत्ता दी। छायावाद ने इस सौन्दर्य मे सूक्ष्म स्पन्दन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
वरसाती आँखो के वादल बनते जहाँ भरे करुणा-जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की, पाकर कूल किनारा।
—प्रसाद

भारतेन्दु-युग के—'चलहु वीर उठि तुरत सबै जयध्वजहिं उडाओ' आदि अभियान-गीतो मे राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अकुर है, वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये—

हिमाद्रि तुंग शृंग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला,
स्वतन्त्रता पुकारती।
—प्रसाद

आदि अभियान गीत सस्कृत के वर्णवृत्तो से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पन्दन पाते है। राष्ट्रगीतो मे वही निर्धूम करुण दीप्ति है, जो मोम-दीपो मे मिलेगी।

पुरातन गोरव की ओर प्राय. सभी कवियो का ध्यान आकर्षित हुआ; क्योकि विना पिछले सास्कृतिक मूल्यो के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निश्चित करने मे असमर्थ रहता है—

जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक में फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नाश
अखिल संसृति हो उठी अशोक।
—प्रसाद

भूतियों का दिगन्त छवि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल?
—पन्त

मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय
जानते थे वर्षण ही
उद्गीरण वज्र नहीं।
—निराला

इस प्रवृत्ति ने इन कवियो को एक ऐसी सास्कृतिक पृष्ठभूमि दी, जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दु ख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके।

काव्य-गीतो के साथ साथ समानान्तर पर चलनेवाली लोक-गीतो की परम्परा भी उपेक्षा के योग्य नही, क्योकि वह साहित्य की मूल-प्रवृत्तियो को सुरक्षित रखती

आ रही है। प्राय जब प्रबन्धो के शखनाद मे गीत का मधुर स्वर मूक हो जाता है, तब उसकी प्रतिध्वनि लोक-हृदय के तारो मे गूँजती रहती है। इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथा-साहित्य की ओर से वीतराग बना देती है, तब वे कथाएँ सरल आख्यान और किंवदन्तियो के रूप मे लोक-काव्यो मे कही-सुनी जाती है। जब आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौध मे प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है, तब लोक और ग्राम मे वह जीवन के पार्श्व मे खडी रहती है। जब बदली परिस्थितियो मे रण-ककण खुल चुकते है, केसरिया बाने उतर चुकते है, तब लोक-गीत वीररस को पुनर्जन्म देते रहते है।

इस प्रकार न जाने कितनी काव्य-समृद्धि हमे लोक-गीत लौटाते रहे है। इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पन्दित छाया मे विकास पाते है, अत उनके गीतो मे भारतीय काव्य-गीतो की मूल-प्रवृत्तियो का अभाव नही है। इन गीतो के सम्बन्ध मे हमारी धारणा बन गयी है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवनचित्र है, परन्तु उनका थोडा परिचय भी इसे भ्रान्त प्रमाणित कर सकेगा।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबन्दी गीत नही कही जायगी, इसी प्रकार लोक-जीवन के सब ब्योरे गेयता नही पा सकते। इसका सबसे अतर्क्य प्रमाण हमे ग्राम्य जीवन मे मिलेगा, जहाँ लोक का सारा ज्ञान-कोष कण्ठ ही मे रहता है। पशु सम्बन्धी ज्ञान, खेत सम्बन्धी विज्ञान, जीवन की अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओ के समाधान, सब पद्य की रूपरेखा मे बँधकर पीढियो तक चलते रहते है। पर गेयता का महत्त्व इन तुकबन्दियो मे नही खो जाता। गीतो मे उतना ही यथार्थ लिया जाता है, जितना भाव को भारी न बना दे। लोकगीतो मे टेक की तरह आनेवाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमण्डल को घेरनेवाली दिशाओ के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उससे रूँध डालने के लिए नही।

हमारा यह बिना लिखा गीतकाव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियो के मूल रूपो का परिचय देने मे समर्थ है, जो हमारे काव्य मे सूक्ष्म और विकसित होती रह सकी।

प्रकृति को चेतन व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति लोक जीवन मे अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष-लता तक सब एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है और दूसरी ओर जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति मे रहते है।

ग्राम की विरहिणी बाला अपने उसी रात लौटनेवाले पति के स्वागत का प्रबन्ध चन्द्रमा को सौपने मे कुण्ठित नही होती—

आजु उऔ मोरे चन्दा जुन्हइया आँगन लीपै,
झिलमिल होंहि तरइयाँ तौ मोतियन चौक धरै।

(हे मेरे चन्द्र तुम आज उदय हो! तुम्हारी चाँदनी मेरे आँगन को लीपकर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाएँ मोतियो का चौक बन जावे।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा सम्बन्ध है कि वे अपने सुख-दुःख, सयोग-वियोग सब मे उसी के साथ हँसना-रोना, मिलना-बिछुड़ना चाहते हैं—तभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यथित बालिका वधू कहती है--

मोरी डोलिया सजी है दुआर बाबुल तोरी पाहुनियाँ!
फूलै जब अँगना का नीम फरै जब नारङ्गिया,
सुध कर लीजौ इक बार कूकै जब कोइलिया।
बौरै जब बगिया का अमवा झूलन डारै सब सखियाँ,
पठइयो बिरन हमार घिरै जब बादरियाँ।

(हे पिता द्वार पर मेरी डोली आ गयी है! अब मै तुम्हारी अतिथि हूँ। पर जब आँगन का नीम फूलो से भर जाय, नारगी जब फलो से लद जाय और जब कोयल कूक उठे, तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना।

जब बाग का रसाल बौरने लगे, उसकी डाल पर सखियाँ झूला डाल और पावस की काली बदली घिर आवे, तब तुम मेरे भैया को मुझे लेने के लिए भेज देना।)

इस चित्र के पार्श्व मे हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुन्तला का चित्र आँक देती है, जो पिता से लता के फूलने और मृगशावक के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वृक्ष-लताओ से कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माष्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन वा पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

(जो तुम्हे पिलाये (सीचे) बिना स्वय जल नही पीती, शृंगार से अनुराग रखने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे पल्लव नही तोडती, तुम्हारा फूलना जिसके लिए उत्सव है, वही शकुन्तला आज पति के घर जा रही है, तुम सब इसे विदा दो।)

इन दो चित्रो के साथ जब हम इस ग्रामवधू का चित्र देखते है—

नहीं ऑसुओं से ऑचल तर
जन-विछोह से हृदय न कातर,
रोती वह रोने का अवसर
जाती ग्रामवधू पति के घर!
—ग्राम्या

तव अपने दृष्टिकोण की उस विषमता और हृदय के उस दारिद्रय पर विस्मित हुए विना नही रहते, जो हमी को जड नही वनाता, दूसरो को भी यत्र के समान ही अकित करना चाहता है।

रहस्य-गीतो की रूपकमय पद्धति भी इन गीतो को गगायमुनी आभा मे स्नात कर देती है —

नइया मोरी झाँझरिया—नइया मोरी०
घहरै बदरिया कारी हहर बहै पुरवइया;
छूट रही पतवार तौ रूठो खेवइया—नइया मोरी०

(मेरी नाव जर्जर है, काली घटा घहराकर उमड़ आई है, पुरवइया पवन के झकोरे हहराते हुए वह रहे है, पतवार हाथ से छूट गयी है और मेरा कर्णधार न जाने कहाँ रूठा वैठा है।)

उपर्युक्त पक्तियो मे रहस्य के साथ जीवन की प्रत्यक्ष विपन्नावस्था का जो चित्र अकित है, उसमे न रेखाओ की कमी है, न रग मे भूल। इतना ही नही, दर्शन जैसे गहन विपय पर आश्रित गीत भी न वाह्य यथार्थता मे रहस्य की सूक्ष्मता खोते हैं, न अध्यात्म की गहनता मे अपने लौकिक रूपो को डुवाते है।

एक कदम इक डार बसैं वे दुइ पँखियाँ रे।
सरग उड़न्ती एक उड़त फिरै दिन-रतियाँ रे;
चुगत-चुगत गयी दूर सो दूसर अनमनियाँ रे,
मारो वियाधा ने बान रोवन लागीं दोउ अँखियाँ रे।

(एक कदम्व की एक ही डाल पर वे दो विहग वसते है। उनमे एक अन्तरिक्ष मे रात-दिन उडता ही रहता है, दूसरा उन्मन भाव से चुगता-चुगता दूर निकल गया और उसे एक व्याध ने वाण से वेध लिया। तव उसकी दोनो आँखे आँसू वरसाने लगी।)

यह मण्डूकोपनिपद् के 'द्वा सुपर्णा सायुजा' आदि मे व्यक्त भाव का अधिक भावगत रूप ही कहा जायगा।

हमारे काव्य के भाव और चिन्तन दोनों की अधिक सहज, स्वाभाविक प्रतिच्छाया लोकगीतो मे मिलती है। इसका कारण हमारे सगुण-निर्गुण-गीतो की जीवन-व्यापी मर्मस्पर्शिता और सरलता ही जान पड़ती है।

यदि हम भापा, भाव, छन्द आदि की दृप्टि से लोकगीत और काव्यगीतो की सहृदयता के साथ परीक्षा करे, तो दोनो के मूल मे एक सी प्रवृत्तियाँ मिलेगी।

# यथार्थ और आदर्श

० ०

सन्तुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रो मे यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, किन्तु समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है, बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढके वीर है कि जीवन की स्थूलता हमे किसी ओर से भी स्पर्श नही कर सकती, या ऐसे मुक्त जड-वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणो के समान बिखर जाता है, या तो ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी है कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नही कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामञ्जस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी है कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते है, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी मे मुख गडाये पडे रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते है। आज जब बाह्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीति, समाज आदि के क्षेत्रो मे भी हमारे इस एकागी दृष्टिकोण ने हमे केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वस मे ही जीवित रहने पर बाध्य किया है, तब काव्य के सम्बन्ध मे क्या कहा जावे, जिसमे हमारी सारी विषमताएँ अपेक्षाकृत निर्बन्ध विकास पा सकती हैं।

प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी विशेष अपूर्णता से सम्बन्ध रखने के कारण तीव्र और एकागी होती है। यदि उसे भूत और भविष्य की एक समन्वयात्मक कल्पना से सचालित न किया जावे तो वह विकास का अवकाश न देकर विषमताओ की शृखला बनाती चलती है। यह सत्य है कि जीवन की गतिशीलता के लिए क्रिया-

प्रतिक्रिया दोनो की अवश्यकता रहती है। पर इस गति की लक्ष्यहीनता को विकास से जोड़ देना, हमारी दृष्टि की उसी व्यापकता पर निर्भर है, जो आकाश के नक्षत्र से धरती के फूल तक आ-जा सकती है।

साधारण रूप से गिरना, पड़ना, भटकना सभी अचलता से भिन्न है, परन्तु गति तो वही स्थिति कही जायगी, जिसमे हमारे पैरो मे सन्तुलन और दृष्टिपथ मे एक निश्चित गन्तव्य रहता है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति किसी प्रकार भी यह नही प्रमाणित कर देती कि हमारे ध्वसात्मक विद्रोह ने सृजन की समस्या भी सुलझा ली है। यो तो आँधी और तूफान की भी आवश्यकता है, अतिवृष्टि और अनावृष्टि का भी उपयोग है, परन्तु यह कौन कहेगा कि वह आँधी तूफान को ही श्वासोच्छ्वास बना लेगा, केवल अतिवृष्टि या केवल अनावृष्टि मे ही बोये काटेगा। प्रत्येक उथल-पुथल मे से निर्माण का जो तन्तु आ रहा है, उसे ग्रहण कर लेना ही विकास है, परन्तु यह कार्य उनके लिए सहज नही होता, जिनकी दृष्टि क्रिया-प्रतिक्रिया के उत्तेजक आज तक ही सीमित रहती है। ध्वस मे केवल आवेग की तीव्रता ही अपेक्षित है, पर निर्माण मे सृजनात्मक सयम के साथ-साथ समन्वयात्मक दृष्टि की व्यापकता भी चाहिए। प्रासाद का गिरना किसी कौशल की अपेक्षा नही रखता, परन्तु बिना किसी शिल्पी के मिट्टी का कच्चा घर बना लेना भी कठिन होगा, इसी से प्राय राजनीतिक क्रान्तियो के ध्वसयुग के सूत्रधार निर्माण-युग में अपना स्थान दूसरो के लिए रिक्त करते रहे है।

काव्य-साहित्य और अन्य कलाएँ मूलत सृजनात्मक है, अत' उनमे राजनीति के कार्य-विभाजन जैसा कोई विभाजन सम्भव ही नही होता। कोई भी सच्चा कलाकार ध्वसयुग का अग्रदूत रहकर निर्माण का भार दूसरो पर नही छोड जा सकता, क्योकि उसकी रचना तो निर्माण तक पहुँचने के लिए ही ध्वस का पथ पार करती है। जिस प्रकार मिट्टी की क्रिया से गला और अपनी प्रतिक्रिया मे अकुर बनकर फूटा हुआ बीज तब तक अधूरा है, जब तक वह अपनी और मिट्टी की शक्तियो का समन्वय करके अनेक हरे दलो और रगीन फूलो मे फैल नही जाता, उसी प्रकार जीवन के विकासोन्मुख निर्माण मे व्यापक न होकर केवल प्रतिक्रियात्मक ध्वस मे सीमित रहनेवाली कला अपूर्ण है।

इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न तो किया ही जा सकता है। यदि हम केवल लक्ष्य पर दृष्टि न रखे तो लक्ष्यभेद कैसे हो? उत्तर सहज और स्पष्ट है। जीवन केवल लक्ष्यभेद ही नही, लक्ष्य का स्थापन भी तो है। कलाएँ ही नही जीवन की स्थूलतम आवश्यकताएँ भी मत्स्य की आँख को बाण की नोक से छेद देने के समान नही कही जा सकती। भोजन के एक ग्रास की

इच्छा भी ईंधन-पानी से लेकर के शरीर के रस तक किस प्रकार फैली है, कौन नही जानता।

मनुष्य यंत्र मात्र नही है, (आज तो यंत्रो के कलपुर्जे भी न सब के लिए स्पष्ट है, न रहस्य से शून्य) कि उसका सम्पूर्ण वाह्य और अन्तर्जगत कुछ विशेष नियमो से सञ्चालित हो सके। वाह्य जीवन को तो निर्दिष्ट नियम किसी अंश तक वाँध भी सकते हैं, परन्तु अन्तर्जगत् अपनी सूक्ष्मता के कारण उनकी परिधि से परे ही रहेगा। हमारा कोई भी स्वप्न, किसी प्रकार की भी कल्पना, कैसी भी इच्छा जब तक स्थूल साकारता नही ग्रहण करती, तब तक वाह्य संसार के लिए उसका अस्तित्व नही है। परन्तु हमारे अन्तर्जगत् मे तो उसकी स्थिति रहेगी ही और इस प्रकार वह रोग के कीटाणुओ के समान उपचारहीन घाव भी करती रह सकती है और जीवनरस के समान स्फूर्ति का कारण भी बन सकती है। हमारे अन्तर्जगत् मे पली हुई विपम भावना, विकृत कल्पना आदि के परिणाम में प्रकट स्थूल रूप-रेखा की कमी हो सकती है, परन्तु जीवन को जर्जरित कर देनेवाली शक्ति का अभाव नही होता, इस सत्य को हमें स्वीकार करना ही होगा।

राजनीति और समाज के विधान हमारे इस सूक्ष्म जीवन को बाँध नही पाते। स्थूल घर्म और सूक्ष्म अध्यात्म भी इस कार्य मे प्राय. असमर्थ ही प्रमाणित होते रहे है, क्योकि पहला तो राजनीति के न्याय-विधान को ही परलोक मे प्रतिष्ठित कर आता है और दूसरा सत्य को सौन्दर्यरहित कर देने के कारण केवल बुद्धिग्राह्य वनकर हृदय के लिए अपरिचित हो जाता है।

इस सम्वन्ध मे एक वात ओर ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वाह्य शारीरिक कुरूपता मनुष्य के सौन्दर्यवोध को कुण्ठित नही कर देती, प्रत्युत कभी-कभी और अधिक तीव्रता दे देती है, उसी प्रकार उसके वाह्य या अन्तर्जगत् की अपूर्णता उसे पूर्णता का सौन्दर्य देखने से नही रोकती। ऐसा कुत्सित मनुष्य मिलना कठिन होगा, जिसके अन्तर्जगत् से पूर्णता की प्रत्येक रेखा मिट गयी हो, सामञ्जस्य के आदर्श के सव रग धुल गये हो। साधारणत घोर मिथ्यावादी भी सत्य को सबसे अधिक सम्मान देता है। मलिनतम व्यक्ति भी पवित्रता का सवसे अधिक मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य ससार के सामने ही नही, हृदय के एकान्त कोने मे भी यह नही स्वीकार करना चाहता कि वह मिथ्या के लिए ही मिथ्यावादी है, मलिनता के प्रेम के कारण ही मलिन है। प्राय वह सव व्यक्तिगत अपूर्णताओ और विषमताओ का भार परिस्थितियो पर डालकर, अन्तर्जगत् मे प्रतिष्ठित किसी पूर्णता और सामञ्जस्य की प्रतिमा के निकट अपने आपको क्षम्य सिद्ध कर लेता है।

यह अपूर्णता से पूर्णता, यथार्थ से आदर्श और भौतिकता से सूक्ष्म तत्त्वो तक विस्तृत जीवन, काव्य और कलाओ की उसी परिधि से घिर सकता है जो सौन्दर्य की विविधता से लेकर सत्य की असीम एकरूपता तक फैली हुई है।

विशेष रूप से काव्य तो हमारे अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्वो को, देशकाल से सीमित जीवन की स्थूल रूप-रेखा मे इस प्रकार ढाल देता है कि वे हमारे लिए एक परिचयभरी नवीनता बन जाते है। उसका सस्पर्श तो बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा दूरागत रागिनी का, जिसकी लहरे बिना आहट के ही हमारे हृदय को पुलक-कम्प से भर देती है, पर हमारे बाह्य-जीवन मे ढला उसका रूप किसी प्रकार भी अशरीरी नही जान पडता।

काव्य का देश-काल से नियन्त्रित रूप विभिन्नता से शून्य नही हो सकता, परन्तु उसमे व्यक्त जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ परिष्कृत से परिष्कृत होती रहती है, बदलती नही। उनका विकास कली का वह विकास है, जो पखडियो को पुष्ट और रग को गहरा कर सकता है, गन्ध को व्यापकता और मधु को भारी-पन दे सकता है, जीवन को पूर्णता और सौन्दर्य को सजीवता प्रदान कर सकता है, परन्तु कली को न तितली बनाने मे समर्थ है, न गुबरीला।

जीवन की इसी विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की, रूप मे भिन्न पर प्रेरणा मे एक, शैलियाँ अपनाई है। जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना मे जैसा है, यही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप मे तो वे दोनो, जीवन के उतने ही दूर पास है, जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक और उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न, नदी के दो तट। उनमे से केवल एक से जीवन को घेरने का प्रयास, प्रयास ही बनकर रह सकता है, उसे सफलता की सज्ञा देना कठिन होगा।

किसी भी युग मे आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षो मे परिवर्तित करके नही खड़े किये जा सकते, जिनमे से एक युद्ध की आग मे जल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम मे गल जाना पडा। वे एक दूसरे के पूरक रह कर ही जीवन को पूर्णता दे सकते है, अत काव्य उन्हे विरोधियो की भूमिका देकर जीवन मे एक नयी विषमता उपत्न्न कर सकता है, सामञ्जस्य नही। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है, और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ को शून्य आकाश बना सकता है।

जहाँ तक स्वप्न और सत्य का प्रश्न है, हमारे विकास-क्रम ने उनमे कोई विशेष अन्तर नही रहने दिया, क्योकि एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बनता

ही आया है। पापाण-युग के वीर के लिए महाभारत के अग्निवाण स्वप्न ही रहे होगे, कन्दरा मे रहनेवाले मानव ने गगनचुम्बी प्रासादो की कल्पना को स्वप्न ही माना होगा और आदिम-युग के स्त्री-पुरुप ने एक पति-व्रत और एक पत्नी-व्रत का स्वप्न ही देखा होगा। हमारे युग की अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ पिछले युग के लिए स्वप्नमात्र थी, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

जब एक युग अपनी पूर्णता और सामञ्जस्य के स्वप्न को इतनी स्पष्ट रेखाओ और इतने सजीव रगो मे अकित कर जाता है कि आनेवाला युग उसे अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से सत्य बना सके और जब आगत-युग, उस निर्माण से भी भव्यतम निर्माण का स्वप्न भावी-युग के लिए छोड जाने की शक्ति रखता है, तब जीवन का विकास निश्चित है।

इसी क्रम से स्वप्नो को सत्य बनाते-बनाते हमारे समाज, सस्कृति, कला, साहित्य आदि का विकास हुआ है। हमारी चेतना मे चेतन परमाणुओ का जैसा समन्वय है, हमारे शरीर मे जड-द्रव्य का जैसा विकासमय सन्तुलन है और हमारी सभ्यता की व्यापकता मे, हमारे हृदय और मस्तिष्क की वृत्तियो के साथ कार्यो का जैसा सामञ्जस्य है, वह ऐसी स्थिति मे सम्भव नही हो सकता था, जिसमे आगत युग प्रत्येक साँस मे, अपने अपूर्णतम यथार्थ के भी चिरञ्जीवी होने के शकुन मनाना और पिछले युग के पूर्णतम स्वप्न की भी मृत्यु-कामना करना आरम्भ कर देता है।

देश-काल के अनुसार अनेक विभिन्नताओ के साथ भी नये युग की यात्रा वही से आरम्भ होगी, जहाँ पिछले युग की समाप्त हुई थी। विकास-पथ मे, चले मार्ग से लौटकर फिर अन्तिम छोर से यात्रा आरम्भ करना सम्भव नही हो सकता, इसीसे पूर्ण स्वप्न के दान और उसके सृजनात्मक आदान का विशेष मूल्य है।

यह सत्य है कि विकास-क्रम मे विषमताएँ भी उत्पन्न होगी और प्रतिक्रियाओं का भी अविर्भाव होता रहेगा। परन्तु उनका उपयोग इतना ही है कि वे हमे दृष्टि के पुञ्जीभूत धुँधलेपन के प्रति सजग कर दे, क्षितिज की अस्पष्टता के प्रति सतर्क बना दे और विकास-सूत्र की सूक्ष्मता के प्रति जागरूकता दे। जहाँ तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, उसका आधार जितना अधिक जड भौतिक होता है, ध्वस मे उतनी ही अधिक उग्रता और सृजन मे उतनी ही शिथिलता मिलती है। नीव-शेष ताज महल गिरकर खँडहर-मात्र रह जायगा, परन्तु टूटा हुआ पर मूल-शेप वृक्ष असख्य शाखा-उपशाखाओ मे लहलहा उठेगा।

काव्य मे वही क्रिया-प्रतिक्रिया अपेक्षित है, जिसमे प्रत्येक ध्वस अनेक

सृजनात्मक रूपों को जन्म देता चलता है। उसका परिवर्तन-क्रम शोधे हुए सखिये के समान मारक शक्तियो को ही जीवनदायिनी बना देता है, इसी से हमारे बाह्य परिवर्तन से वह लक्ष्यत एक होकर भी प्रयोगत भिन्न ही रहा है। क्रूरतम परिस्थितियो और विषमतम वातावरण मे भी कलाकारो की साधना का राजमार्ग एक ही रहता है।

हमारे प्रत्येक निर्माण-युग की कलाएँ स्वप्न और सत्य, आदर्श और यथार्थ के बाह्य अन्तर को पार कर उनकी मूलगत अन्योऽन्याश्रित स्थिति को पहचानती रही है। इसी विशेषता के कारण, बहिरग सौन्दर्य मे पूर्ण ग्रीक मूर्त्तियो से भिन्न, हमारी विशाल मूर्त्तियाँ अपनी गुरु, कठोर और स्थूल मुद्राओ मे सूक्ष्मतम रहस्य के वायवी सकेत छिपाये बैठी है। इसी गुण से, हम धूलि की व्यथा कहकर आकाश मे मेघो को घेरलाने वाली रागिनी और अन्तरिक्ष के अन्धकार को वाणी देकर पृथ्वी के दीपक जला देनेवाले राग की सृष्टि कर सके है। इसी सहज प्रवृत्ति से प्रेरित हमारा नृत्य केवल वासनाजनित चेष्टाओ मे सीमित न होकर जीवन की शाश्वत् लय को रूप देता रहा है और चित्रकला नारी को सौन्दर्य और शक्ति के व्यापक सिद्धान्त की गरिमा से भूषित कर सकी है। इसी चेतना से अनुप्राणित हमारे काव्य सत् से चित् और चित् से आनन्द तक पहुँचते तथा सुन्दर से शिव और शिव से सत्य को प्राप्त करते रहे है।

जिन युगो मे हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्ही युगो मे हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वसात्मक अन्धकार के युगो मे या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरो को बाँधते रहे है।

स्थूल उदाहरण के लिए हम रामायण और महाभारत-काल की परिणामत भिन्न यथार्थ-दृष्टियो को ले सकते है। परिस्थितियो की दृष्टि से, कर्तव्यपरायण और लोकप्रिय युवराज का, अभिषेक के मुहूर्त मे अकारण निर्वासन, द्यूत मे हारे हुए पाण्डवो के निर्वासन से बहुत अधिक क्रूर है। एक ओर पाँच पतियो और दूसरी ओर गुरुजन-परिजन से घिरी हुई अपमानित राजरानी की स्थिति से, सुदूर शत्रुपुरी मे बर्बरो के बीच मे बैठी हुई सहायहीन और एकाकिनी राज-तपस्विनी की स्थिति अधिक भयोत्पादक है। उत्तर भारत की आधी राजशक्तियो और उस क्रान्ति के सूत्रधार को लेकर युद्ध करनेवाले योद्धाओ के कार्य से उस निर्वासित वीर का कार्य अधिक दुष्कर जान पडता है, जिसे विजातियो

की सीमित सेना लेकर विदेश मे, व्यक्तिगत शत्रु ही नही, उस युग के सबसे शक्तिशाली उत्पीडक का सामना करना पडा।

पर दोनो सघर्षो के परिणाम कितने भिन्न है! एक के अन्त मे आर्य-सस्कृति की प्रवाहिनी उत्तर से दक्षिण-सीमान्त तक पहुँच जाती है। हमारे चरित्र का स्वर्ण परीक्षित हो चुकता है और हमारे सौन्दर्य, शक्ति और शील के आदर्श जीवन मे प्रतिष्ठा पाकर, उसे हिमालय के समान, सहस्र-सहस्र शाखाओ मे गतिशील पर मूल मे अचल विशालता दे देते है।

दूसरी क्रान्ति के अन्त मे अन्यायी और अन्याय से जूझनेवाले दोनो जूझ मरते है और इतना बडा सघर्ष कुछ भी सृजन न करके आगामी युग के लिए सीमाहीन मरु और उसके शून्य मे मँडराता हाहाकार मात्र छोड जाता है। सग्रामभूमि मे एक ओर न्यायपक्ष का कातर वीर इतना असमर्थ है कि निष्काम कर्म की बैसाखी के बिना खडा ही नही हो सकता और दूसरी ओर भीष्म ऐसे योद्धा ऐसे विरक्त है कि दिन भर क्रीत सैनिको के समान युद्ध कर रात मे विपक्ष को अपनी मृत्यु के उपाय बताते रहते है। एक जानता है कि प्रतिपक्षी का नाश हो जाने पर, उस महाशून्य मे उसका दम घुट जायगा और दूसरा मानता है कि उस दुर्वह जीवन से मृत्यु अच्छी है। इन विषमताओ का कारण ढूँढने दूर न जाना होगा। रामायण काल के यथार्थ के पीछे जो सामञ्जस्यपूर्ण निर्माण का आदर्श था, वही जीवन को सब अग्नि-परीक्षाओ से अक्षत निकाल लाया, पर महाभारत-काल की, व्यक्तिगत विरोधो मे खण्डित और अकेली यथार्थ-दृष्टि कोई सृजनात्मक आदर्श नही पा सकी, जिसके सहारे उसका न्यायपक्ष उस ध्वसयुग के पार पहुँच पाता।

हमारे अन्य विकासशील काव्य-युगो मे भी ऐसे उदाहरणो का अभाव नही। जिन यथार्थ-दर्शियो ने बीहड वनो मे मार्ग बनाने, निर्जनो को बसाने और स्थूल जीवन की, यज्ञ से लेकर बीज तक सख्यातीत समस्याएँ सुलझाने का मूल्य समझा, वे ही प्रकृति और जीवन मे समान रूप से व्याप्त सौन्दर्य और शक्ति की भावना कर सके, ज्ञान की सूक्ष्म असीमता के मापदण्ड दे सके और अध्यात्म की अरूप व्यापकता को नाम-रूप देकर अखण्ड जीवन के अमर द्रष्टा बन सके। मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित्र मे भी जिसकी यथार्थ-दृष्टि भ्रान्त न हो सकी, उसी कविमनीषी के सामञ्जस्य का आदर्श, क्रौञ्च पक्षी की व्यथा की थाह लेकर हमे प्रथम श्लोक और आदिकाव्य दे गया है।

हिन्दी का अमर-काव्य भी आदर्श की सीमाओ मे यथार्थ का और यथार्थ के रगो मे आदर्श का जैसा विशाल चित्र अकित कर गया है, उसमे अमिट रूप-रेखाएँ ही नही, जीवन का शाश्वत् स्पन्दन भी है। मन्दिर-मसजिद की स्थूलता से लेकर

अन्धविश्वास की आडम्बरपूर्ण विविधता तक पहुँचने वाली कबीर की उग्र यथार्थ-दृष्टि , कठोर यथार्थदर्शी को भी विस्मित कर देगी, परन्तु विषम खण्डो मे उलझी हुई यही यथार्थ-दृष्टि, विना गुणो का सहारा लिये, बिना रूप-रेखा पर विश्राम किये, अखण्ड अध्यात्म की असीमता नाप लेने की शक्ति रखती है । इसी से जुलाहे के ताने-बाने पर वुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके है। तुलसी जैसे अध्यात्मनिष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियो की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियो से साक्षात् किया है, स्थूलतम उलझनो और सूक्ष्मतम समस्याओ का जैसा समाधान दिया है और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ बन्धन मे बाँधा है, वैसा किसी और से सम्भव न हो सका। क्रूर नियति ने जिसके निकट यथार्थ जगत् का नाम अन्धकार कर दिया था, उसी सूर से सूक्ष्मतम भावनाओ, कोमलतम अनुभूतियो और मिलन-विरह की मार्मिक परिस्थितियो का सबसे अधिक सजीव और नैसर्गिक चित्रण हुआ है। अमर प्रेम की स्वप्नदर्शिनी मीरा के हाथ मे ही यथार्थ का विष अमृत बन सका है।

जव हमने आदर्श को अमूर्त और यथार्थ को एकागी कर लिया, तब एक बौद्धिक उलझनो और निर्जीव सिद्धान्तो मे बिखरने लगा और दूसरा पाशविक वृत्तियो की अस्वस्थ प्यास मे सीमित होकर घिरे जल के समान दूषित हो चला। एक ओर हम यह भूल गये कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रगो से तब तक नही भरी जा सकती, जब तक उन्हे जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमे यह स्मरण नही रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलो का सहारा देना आवश्यक है। फलत हमारे समग्र जीवन मे जो ध्वस का युग आया, उसे बिदा देना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। सत्य तो यह है कि सैनिक-युग, न बीते कल को सम्पूर्णता मे देख सकता है और न आगामी कल के सम्बन्ध मे कोई कल्पना कर सकता है, क्योकि एक उसकी जय-पराजय की भूली कथा मे समाप्त है और दूसरा युद्ध की उत्तेजना मे सीमित। और यदि सैनिक-युग के पीछे पराजय की स्मृतियाँ और आगे निराशा का अन्धकार हो, तब तो उसके निकट जीवन और वस्तुजगत् के मान ही बदल जाते है।

दु ख के सीमातीत हो जाने पर या तो ऐसी स्थिति सम्भव है, जिसमे मनुष्य दु ख से वहुत ऊपर उठकर निर्माण के नये साधन खोजता है, या ऐसी, जिसमे वह अपने आपको भूलने के लिए और कभी-कभी तो नष्ट करने के लिए किसी प्रकार के भी उपाय का स्वागत करता है। हमारा सुदीर्घ रीतियुग दूसरी आत्मघाती प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। सस्कृत-काव्य के उत्तरार्द्ध मे भी यही सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति मिलेगी, जिसने काव्य ही नही, सम्पूर्ण कलाओ पर 'इति' की मुद्रा अकित

कर हमारी जीवनशक्ति के अन्त की सूचना दी। अन्य उन्नत जातियो के निर्वाण-युग की कलाएँ भी इसका अपवाद नही, क्योकि जीवन का वह नियम, जिसके अनुसार वडे से वडे राजकुमार को भी घुट्टी मे हीरा पीसकर नही पिलाया जा सकता, सवके लिए समान रहा है और रहेगा।

जो नारी, माता, भगिनी, पत्नी, पुत्री आदि के अनेक सम्वन्धो से, वात्सल्य, ममता, स्नेह आदि असख्य भावनाओ से तथा कोमल-कठोर साधनाओ की विविधता से, पुरुष को, भूमिष्ठ होने से चितारोहण तक घेरे रहती है और मृत्यु के उपरान्त भी उसे स्मृति मे जीवित रखने के लिए उग्रतम तपस्या से नही हिचकती, उससे सत्य यथार्थ और उससे सजीव आदर्श पुरुष को कहाँ मिलेगा? उससे पुरुष की वासना का वह सम्वन्ध भी है जो पशु-जगत् के लिए भी सामान्य है। परन्तु मानवी ने पशु-जगत् की साधारण प्रवृत्ति से बहुत ऊपर उठकर ही पुरुष को आज्ञाकारी पुत्र, अधिकारी पिता, विश्वासी भाई और स्नेही पति के रूपो मे प्रतिष्ठित किया है। इसी से निर्माण-युग का शूर भी, प्रकृति के समान ही अनेक-रूपिणी मातृजाति के वरदानो के सामने नतमस्तक हो सका और उसका कृतज्ञ हृदय भौतिक ऐश्वर्य से लेकर दिव्य ज्ञान तक का नामकरण करते समय नारीमूर्त्ति का स्मरण करता रहा।

जव पुरुष ने, सौन्दर्य और शक्ति के इसी यथार्थ को विकलाग और जीवन के इसी आदर्श को खण्डित वना, उसे अपने मदिरा के पात्र मे नाप लेने का स्वाँग करते हुए आश्वस्त भाव से कहा—वस नारी तो इतनी ही है, तव उसने अपनी वुद्धि की पशुता और हृदय की जडता की ही घोषणा की।

क्रमश हमारे सामगान का वशज सगीत, हमारी अर्चना मे उत्पन्न नृत्य—सव उस समाज-विशेष की पैतृक सम्पत्ति वन गये, जिसे केवल वासना की पूँजी से व्यापार करने का क्रूर कर्त्तव्य स्वीकार करना पडा।

सौन्दर्य के तारो से सत्य की झकार उत्पन्न करनेवाले कवि उस सामन्तवर्ग के लिए विलास का खाद्य प्रस्तुत करने लगे, जो अजीर्ण से पीडित था, इसी से स्त्री नाम के व्यञ्जन को अनेक-अनेक रूपो मे उपस्थित करना आवश्यक हो उठा।

रसो के असीम विस्तार और अतल गहराई मे कवि को निम्न वासना के घोघे ही मिल सके और प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य की चिरन्तन सजीवता मे पाशविक वृत्तियो के निर्जीव उद्दीपन ही प्राप्त हुए। क्या इस प्रवृत्ति मे यथार्थता नही? अवश्य ही है। अमृत सम्भाव्य हो सकता है, पर विष तो निश्चित यथार्थ ही रहेगा। एक हमारे स्वप्नो का विषय वनता है, कल्पना का आधार रहता है, खोज का लक्ष्य हो जाता है, फिर भी सहज प्राप्य नही, और दूसरा प्रत्येक

स्थान और प्रत्येक स्थिति मे प्राप्त होकर भी हमारे भय का कारण है, नाश का आकार है और मृत्यु की छाया है। एक को हम महान् मूल्य देकर भी पाना चाहते है और दूसरा मूल्यहीन भी हमे स्वीकार नही।

एक सम्भाव्य आदर्श, एक निश्चित यथार्थ से, एक मूल्यवान् स्वप्न एक वेदाम स्थूल से अधिक महत्त्व क्यो रखता है? केवल इसलिए कि एक हमे जीवन का अनन्त आरम्भ दे सकता है, और दूसरा मृत्यु का सान्त परिणाम। इस सत्य को यदि हम तत्त्वतः समझ सके तो रीति युग की वासना का यथार्थ हमारे लिए नवीन उलझनो की सृष्टि न कर सकेगा। उस युग के पास यथार्थ-दृष्टि नही, यह कहना सत्य नही हो सकता, परन्तु वह दृष्टि कठफोडे की पैनी चोच जैसी है, जो कठिन काठ को भी कुरेद-कुरेद उसमे छिपे कीड़े को तो उदरस्थ कर लेती है, पर उस काठ से उत्पन्न हरे पत्तो से निर्लिप्त, फूल से उदासीन और फल से विरक्त रहती है। वृक्ष का अनेकरूपी वैभव न उसे भ्रमर के समान गुञ्जन की प्रेरणा देता है, न कोकिला के समान तान लेना सिखाता है और न मधुमक्षिका के समान परिश्रम की शक्ति प्रदान करता है।

विकास-क्रम मे पशुता हमारा जन्माधिकार है और मनुष्यता हमारे युग-युगान्तर के अनवरत अध्यवसाय से अर्जित अमूल्य निधि, इसी से हम अपने पूर्ण स्वप्न के लिए, सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श के लिए और उदात्त भावनाओ के लिए प्राण की वाजी लगाते रहे है। जब हममे ऐसा करने की शक्ति शेष नही रहती, तब हम एक मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की ओर लौट चलते है, क्योकि वहाँ पहुँचने के लिए न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की।

हम अपने शरीर को निश्चेष्ट छोडकर हिमालय के शिखर से पाताल की गहराई तक सहज ही लुढकते चले आ सकते है, परन्तु उस ऊँचाई के सहस्र अशो मे से एक तक पहुँचने मे हमारे पाँव काँपने लगेगे, साँस फूल उठेगी और आँखो के सामने अँधेरा छा-छा जायगा।

उस युग के सामने राजनीतिक पराजय, सामाजिक विशृखलता और सास्कृतिक ध्वस का जो कुहरा था, उसे भेदकर जब कलाकार यथार्थ की यथार्थता भी न देख सके, तब उनसे निर्माण के आदर्श और विकास के स्वप्न की आशा करना बालू के कणो से रस की आशा करना होगा। जो विराग की सूक्ष्म रेखाओ मे बँधे और सम्प्रदायो की स्थूल प्राचीरो से घिरे थे, उन्होने भी अपने युग की अस्वस्थ प्यास ही को दूसरे नाम-रूप देकर धर्म्म-सम्मत बना लिया और जिन पर सघर्ष मे लगे आश्रयदाताओ को उत्तेजित करने का भार था, उनकी दृष्टि सामयिक सकीर्णता लेकर, पक्ष के गुण और विपक्ष के दुर्गणो की अतिरञ्जना मे सीमित

और एकरस हो गयी। इस प्रकार आदर्श से विच्छिन्न और यथार्थ से विकलांग काव्य और कलाएँ पिघलते हुए वर्फ की अछोर शिला के समान अपने विद्युत् वेग मे ध्वस लिए हुए, नीचे और नीचे ही उतरती चली आयी। जहाँ उनकी गति रुकी, वहाँ आँखे मलकर हमने अपने सामने एक धुँधला क्षितिज और अपने चारो ओर एक विपम भूखण्ड पाया ।

आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का वालक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अत उनकी अन्योऽन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुखी होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।

यथार्थ को जैसे-जैसे हम देखते जाते है, वैसे-वैसे उसकी त्रुटियो को हमारी कल्पना की रेखाएँ पूर्ण करती चलती है, इसी से अन्त मे हम उसकी विपमता पर खिन्न और सामञ्जस्य पर प्रसन्न होते है। उदाहरण के लिए हम एक चित्र को ले सकते है। उसमे एक वालक रग के धव्वे ही देखेगा, सावारण व्यक्ति रग के साथ आकार भी देख सकेगा, पर सहृदय कलाप्रेमी रग, रेखा आदि मे व्यक्त सामञ्जस्य या विषमता का भी अनुभव करेगा। यथार्थ से उसके मूलगत आदर्श तक पहुँचने का यह क्रम मनुष्य की सामञ्जस्यमूलक भावना के विकसित रूप पर निर्भर रहता है। यथार्थ की त्रुटि जानने का अर्थ यही है कि हमारे पास उस त्रुटि से ऊपर का चित्र है, इसी से यथार्थ का वैषम्य उन्हे नही ज्ञात होता, जिनके पास सामञ्जस्य की भावना का अभाव रहता है। रेखागणित के समान यथार्थ को जान लेना ही हमें उसके निकट परिचय का अधिकारी नही वना सकता, क्योकि जव तक हम उन तारो से अपने सामञ्जस्य का स्वर नही निकाल लेते, वह यथार्थ और हमारे जीवन का यथार्थ, जोड़-फल के साथ रखे हुए गणित के अको जैसे ही दुर्मिल वने रहते है। यथार्थ, यथार्थ से एक नही होता, अन्यथा हमारे घरो के खम्भे सहचर हो जाते और वृक्ष सहोदर वन जाते। एक यथार्थ दूसरी सामञ्जस्य-भावना का स्पर्श करके ही अपना परिचय देने मे समर्थ हो पाता है और यह भावना जिसमे जिस अश तक अधिक है, वह उसी अश तक यथार्थ का उपासक है।

आदर्श का क्रम इससे विपरीत होगा, क्योकि उसमे व्यक्त सामञ्जस्य की प्रत्येक रेखा हमे यथार्थ के सामञ्जस्य या विषमता की स्मृति दिलाती चलती है, इसी से यथार्थ ज्ञान से शून्य वालक के निकट किसी आदर्श का कोई मूल्य नही हो सकता। यदि किसी कारण से हम कल तक का उपार्जित यथार्थ-ज्ञान भूल जावे, तो आज हमारे आदर्श का चित्रपट भी शून्य होगा। इस तरह जीवन मे वह

यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नही केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नही, प्रेत मात्र है।

साधारण रूप से हमारी धारणा बन गयी है कि यथार्थ के चित्रण के लिए हमे कुछ नही चाहिए, परन्तु अनुभव की कसौटी पर वह कितनी खरी उतर सकती है, यह कथन से अधिक अनुभव की वस्तु है। आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नही अनिवार्य रहेगी; इसी से एक की भावना जितनी कठिन है, दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नही, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नही स्वीकार करती। पूर्ण और सुन्दर स्वप्न देख लेना किसी असुन्दर हृदय और विकृत मस्तिष्क के लिए सहज सम्भाव्य नही रहता, पर जब हृदय और मस्तिष्क की स्थिति ने इसे सहज कर दिया, तब केवल अभिव्यक्ति-सम्बन्धी प्रश्न उसे व्यक्त होने से नही रोक पाते। विश्व के स्थूल से सूक्ष्मतम अनेक रूपको के भरोसे, भाषा की कोमल से कठोर तक असख्य रेखाओ की सहायता से और भावो के हल्के से गहरे तक असख्य रगों के सहारे, वह बार-बार व्यक्त होकर सुन्दर से सुन्दरतम, पूर्ण से पूर्णतम होता रह सकता है। आदर्श के सम्बन्ध मे अभिव्यक्ति की समस्या नही, परन्तु अभिव्यक्ति के ग्रहण का प्रश्न रहता है; क्योकि व्यक्त होते ही वह यथार्थ की परिधि मे आ जाता है और इस रूप मे, उसे अपना पूर्ण परिचय देने के लिए, दूसरे की सामञ्जस्य-भावना की अपेक्षा होगी।

जैसे वीणा के एक तार से उँगली का स्पर्श होते ही, दूसरे का अपने आप कम्पन से भर जाना, उनके खिचे-मिले रहने पर सहज और स्वाभाविक है, उसी प्रकार एक व्यक्त आदर्श की अव्यक्त प्रतिध्वनि अनुकूल सवेदनीयता मे आयासहीन होती है।

यथार्थ की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है, क्योकि जो व्यक्त और स्थूल है, उसे खण्डश देख लेना कठिन नही, पर उन खण्डो मे व्याप्त अखण्डता की भावना सहज प्राप्य नही। जीवन खण्ड-खण्ड मे बिखरा, देश-काल मे बँटा और रूप-व्यष्टि मे ढला है, परन्तु उसके एक खण्ड का मूल्य इसलिए है कि वह अखण्ड पीठिका पर स्थित है, उसकी सीमा का महत्व इसलिए है कि वह सीमातीत आधार-भित्ति पर अकित है और उसके एक रूप का अस्तित्व इसलिए है कि वह अरूप की व्यापक समष्टि मे ढला है। यदि हम एक सीमित खण्ड को पूर्ण रूप से घेर भी ले, तो जब तक उसे अशेष जीवन की व्यापक पीठिका पर शेष खण्डो के साथ रखकर नही देखते, तब तक उसके कभी न घटने-बढने वाले मूल्य का पता

नही चलता और जब तक हमे इस मूल्य की अनुभूति नही होती, तब तक उससे हमारा परिचयजनित तादात्म्य संभव नही हो पाता ।

हमारे शरीर की पूर्णता के ही लिए नही, उपयोग के लिए भी आवश्यक अगो का शरीर से भिन्न कोई मूल्य नही, कोई महत्त्व नही और कोई जीवन नही। भावी चिकित्सक का ज्ञान बढाने के लिए चीर-फाड के काम मे आनेवाले शरीर के अग उसका ज्ञान बढाकर स्वय सजीव नही हो जाते।

कला को चाहे प्राकृतिक चिकित्सा भी कह लिया जावे, पर वह ऐसा शल्य-चिकित्सा-शास्त्र कभी नही बन सकती, जिसके जिज्ञासुओ के उपयोग के लिए, निर्जीव यथार्थ-खण्ड सवेदन-शून्यता के हिम मे गाड-गाडकर सुरक्षित रक्खे जावे। कला के यथार्थ को सजीव तो रहना ही है, साथ ही जीवन की अशेष विशालता मे अपने अधिकार का परिचय देते हुए निरन्तर पाना और अविराम देना है; अत. उसकी सीमित स्थूल रेखा से लेकर सामान्य नियम तक सब अपने पीछे एक व्यापक सामञ्जस्य की भावना चाहते है। इस प्रकार यथार्थ का प्रत्येक खण्ड-जीवन, अखण्ड-जीवन के आदर्श पर आश्रित हुए बिना खण्ड ही नही रह सकता।

उदाहरण के लिए हम एक चतुर यथार्थ-शिल्पी द्वारा निर्मित कृश, दीन और अर्धनग्न भिखारी की मूर्ति को ले सकते है। अपनी समारयात्रा मे हमने ऐसे अनेक विरूप खण्ड देखे है, जिनके निकट ठहरने की, हमारे व्यस्त जीवन को इच्छा ही नही हुई। पर उस मूर्ति से साक्षात् होते ही हमारा जीवन अपने सम्पूर्ण आवेग से उसे घेर-घेरकर उसी प्रकार आर्द्र करने लगेगा, जिस प्रकार तीव्र गतिवाला जलप्रवाह अपने पथ मे पडे हुए शिलाखण्ड की प्रदक्षिणा कर-करके उसे अपने सीकरो से अभिषिक्त करने लगता है। हमारा हृदय कहेगा—यह मेरा है! हमारी साँस पूछेगी—इतना अन्तर किसलिए? हमारी बुद्धि प्रश्न करेगी—ऐसा दैन्य क्यो? इस अन्तर का कारण स्पष्ट है। कलाकार ने जब उस खण्ड-विशेष को जीवन की अखण्ड पीठिका पर प्रतिष्ठित और सामञ्जस्य की व्यापक आधारभित्ति पर अकित करके हमारे सामने उपस्थित किया, तब वह अपने स्थायी मूल्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध के साथ हमारे निकट आया और उस रूप मे हमारे जीवन का सत्य उसकी उपेक्षा नही कर सका।

जीवन-पथ पर कंकड़-पत्थर के समान बिखरे और खण्डित यथार्थ को हम जो आत्मीयता नही देते, उसी को अयाचित दिलाने के लिए यथार्थ-वादिनी कलाएँ उन परिचित और उपेक्षित खण्डो को एक अखण्ड भावना के रहस्यमय अञ्चल मे बटोर लेती है। जब कला, जीवन की व्यापकता का भावन बिना किये मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के, कैमरे से खिचे चित्रो को पास-पास चिपकाकर ही अपने चित्राधार

को विराट् बनाना चाहती है, तब वह रेखाओ के जितने निकट आ जाती है, जीवन से उतनी ही दूर पहुँच जाती है।

आदर्श व्यक्ति-विशेष की अखण्ड भावना को रूप देकर उसी रूप की रेखाओ मे यथार्थ के सकेत व्यक्त करता है। इसी से उसका क्रम यथार्थ से भिन्न रहेगा। उदाहरण के लिए वह प्रतिमा पर्याप्त होगी, जिसमे कलाकार ने पूर्ण रेखाओ और प्रशान्त मुद्राओ की सीमा मे एक असीम सामञ्जस्य की भावना भरकर शान्ति को नारी-रूपक मे प्रतिष्ठित किया है। उसकी रेखा-रेखा से फूटती हुई सामञ्जस्य की किरणे हमारी वाष्प जैसी अरूप और हल्की भावना को धरती की मलिनता से बहुत ऊपर ले जाती है और वहाँ से उसे जल की बूंदो-सा, आर्द्रता मे गुरु रूप देकर प्यासे कणो पर झर-झर बरसा देती है।

आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन सकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामञ्जस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि मे सीमित चेतना को, मुक्ति के पख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को, अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असख्य रगो और अनन्त रूपो मे नही उतर सकता, तब शरद् के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है।

आदर्श और यथार्थ की कला-स्थिति के सम्बन्ध मे एक समस्या और भी है। आदर्श हमारे सत्य की भावना होने के कारण अन्तर्जगत् की परिधि मे मुक्त हो सकता है और बाह्यजगत् मे केवल व्यापक रेखाओ का बन्दी रहकर अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। परन्तु यथार्थ हमारी भावना से बाहर भी, कठिन स्थूल बन्धनो के भीतर एक निश्चित स्थिति रखता है, अत उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि वह हमारा भी रहे और अपनापन भी न खोये सहज नही। दिव्य पारिजात के साथ, पुष्पत्व की व्यापक और ससार भर के फूलो के लिए सामान्य सीमा के अतिरिक्त रग, आकार वृन्त, पल्लव आदि के सकीर्ण बन्धन नही है, इसी से हम रगो के ऐश्वर्य, रूपो के कोष और पल्लव तथा वृन्तो की समृद्धि मे से अपनी भावना के अनुकूल चुनाव करके उसे साकारता दे सकते है और हमारी इस साकारता के लिए यथार्थ हमसे कोई प्रश्न नही कर सकता।

इसके विपरीत गेहूँ की एक बाली का भी चित्र बनाने मे हमे एक विशेष रग खोजना होगा, पत्तियो को यथार्थ अकित करना पडेगा, वृन्त को निश्चित आकार-प्रकार देना होगा, दानो को यथातथ्य स्थिति मे रखना होगा और इतने बन्धनो के

व्यापक और सब प्रत्यक्ष रेखाओं के लिए सामान्य हो सकती है, जीवन का अखण्ड आदर्श है।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा यथार्थ आदर्श से भिन्न क्यो माना जावे ? उत्तर उनकी जीवन को व्यक्त करने वाली विभिन्न शैलियो मे मिलेगा, जिनके कारण एक का इति दूसरे का अथ वन जाता है। आदर्शवादी कलाकार जीवन की व्यापक भावना को पहले देकर उसके सकेतो मे यथार्थ को अकित करता है। इसी से अनेक रूपको—उपरूपको मे ढला परिचित प्रत्यक्ष, अपरिचित अप्रत्यक्ष को साकारता देकर ही सफल होता है।

यथार्थवादी प्रत्यक्ष का सीमित शरीर देकर हमे उसके व्यापक और अप्रत्यक्ष स्पन्दन की अनुभूति देता है और आदर्शवादी व्यापक जीवन का भावन देकर हमे उसके सीमित रूपो का पता बताता है। दोनो का क्रम दोहरा अतएव कठिन है। इसी से प्राय. एक कलाकार अपनी सृष्टि को केवल अन्तर्जगत् मे घेर लेता है और दूसरा अपने निर्माण को केवल वाह्य जगत् मे बिखरा देता है। एक के पास रग ही रग रह जाता है औरदूसरे के पास मिट्टी ही मिट्टी, अत एक ओर मिश्रित रगो से सिद्धान्तो की रेखाहीन चित्रशाला प्रस्तुत की जाती है और दूसरी ओर धूल के खिलौने का रगहीन मेला लगाया जाता है। ऐसी स्थिति मे आदर्श और यथार्थ को सजाने का क्रियाकलाप अन्तिम सस्कार के समारोह-सा विवश, करुण पर निश्चित हुए बिना नही रहता। यह क्रम तब तक नही वदलता जब तक कलाकार के जीवन का सत्य, सौन्दर्य मे प्रतिष्ठित होने के लिए विद्रोह नही कर उठता। और जब यह विद्रोह सम्भव हो जाता है,तव कलाकार कठिनाइयो की चिन्ता न करके कण-कण से शिला वने आडम्बर को उसी सहज भाव से छिन्न-भिन्न कर डालता है, जिस सरलता से मा के भृकुटि-भंग पर हँसता हुआ वालक फीके खिलौने को फेककर चूर-चूर कर देता है। तब वह आदर्श और यथार्थ के वीच की खाइयो को जीवन के सहज सवेदन से भरता हुआ उस देश मे जा पहुँचता है, जहाँ स्वप्न सत्य का अनुमान है और सौन्दर्य उसका प्रमाण, सूक्ष्म विश्व-चेतना का सञ्चरण है और स्थूल उसका आकार-ग्रहण।

हमारे चारो ओर एक प्रत्यक्ष जगत् है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियो से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रो तक एक विस्तृत करण-जगत वन चुका है और वनता जा रहा है। वाह्य जगत् के सम्बन्ध मे विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है, उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान में सवसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी अविश्वसनीय प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नही, पूर्णता मे भी दृष्टि, रगो के अभाव मे रग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपो की उपस्थिति मे भी उनकी यथार्थता वदल सकती है। इसके अतिरिक्त

प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर, अनुमान, स्मृति आदि की प्रत्यक्ष छाया फैली रहती है। पर इतना सब कह सुन चुकने पर भी यह स्पष्ट है कि हम ऊपर नीलिमा के स्थान मे खोखला आकाश, टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्रो के स्थान मे, अपार मे [illegible] वेग से घूमनेवाले विशाल ब्रह्माण्ड और पैरो तले समतल धरती के स्थान मे दौड़ते और दौड़ते हुए गोलाकार का अनुभव कर प्रसन्न न हो सकेंगे। हमे यह विशिष्ट ज्ञान उपयोग के लिए चाहिए, पर उस उपयोग के उपभोग के लिए हम अपना सहज अनुभव ही चाहते रहेंगे। इसी कारण वैज्ञानिक ज्ञान को सीखकर भूलता है और कलाकार भूलकर सीखता है।

यथार्थ के सम्बन्ध मे यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टि रखे, तो वह काव्य को लक्ष्यभ्रष्ट कर देगी, क्योकि आनन्द के लिए उसकी परिधि मे स्थान नही। विज्ञान का यथार्थ, स्वय विभक्त ओर निर्जीव होकर ज्ञान की उपलब्धि सम्भव कर देता है, पर काव्य के यथार्थ को, अपनी सीमित सजीवता से ही एक व्यापक सजीवता और अखण्डता का परिचय देना होगा। और केवल ज्ञानाश्रयी कवि यथार्थ को ऐसा उपस्थित करने की शक्ति नही रखता।

साधारणत मनुष्य और संसार की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञान, अनुभूति सब, सस्कारो का ऐसा रहस्यमय ताना-वाना वुनते चलते है, जो एक ओर हृदय और मस्तिष्क को जोडे रहता है और दूसरी ओर जीवन के लिए एक विस्तृत पीठिका प्रस्तुत कर देता है। जिसके पास यह सस्कार-आकाश जितना व्यापक, सामञ्जस्य-पूर्ण और सुलझा हुआ होगा, वह यथार्थ को उतनी ही सफल जीवन-स्थिति दे सकता है। इस सस्कार की छिन्नभिन्नता में हमे ऐसा यथार्थवादी मिलेगा, जो जीवन को विरूप खण्डो मे बाँटता चलता है और इसके नितान्त अभाव मे ऐसा विक्षिप्त सम्भव है, जो सुखदु खो का अनुभव करने पर भी उन्हे कोई सामान्य आधारभित्ति नही दे पाता।

ससार मे प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामञ्जस्य की स्थिति बनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अश तक विरूप है, जिस अश तक वह जीवनव्यापी सामञ्जस्य को छिन्न-भिन्न करती है। अत यथार्थ का द्रष्टा जीवन की विविधता मे व्याप्त सामञ्जस्य को विना जाने, अपना निर्णय उपस्थित नही कर पाता और करे भी तो उसे जीवन की स्वीकृति नही मिलती। और जीवन के सजीव स्पर्श के विना केवल कुरूप और केवल सुन्दर को एकत्र कर देने का वही परिणाम अवश्यम्भावी है, जो नरक स्वर्ग की सृष्टि का हुआ।

ससार मे सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है, जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष

को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला, क्योकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुनकर ऐसा ब्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने मे नरक गढा जाने लगा। इसके उपरान्त, उसे यथार्थ के अकेले सुखपक्ष को पुञ्जीभूत कर इस तरह सजाना पडा कि मनुष्य उसे खोजने के लिए जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य मे यथार्थ के ऐसे ही एकागी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते है। एक ओर यथार्थद्रष्टा केवल विरूपताएँ चुन कर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीरकर स्थूल सुखो की प्रदर्शिनी रचता है। केवल उत्तेजक और वीप्साजनक काव्य और कलाओ के मूल मे यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनो सीमाओ से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना होगा, क्योकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।

यथार्थ यदि सुन्दर है, तो यह पृष्ठभूमि तरल जल के समान उसे सौ-सौ पुलको मे झुलाती है और यदि विरूप है, तो वह तरल कोमलता हिम का ऐसा स्थिर और उज्ज्वल विस्तार बन जाती है, जिसकी अनन्त स्वच्छता मे एक छोटा-सा धब्बा भी असह्य हो उठता है। इस आधार-भित्ति पर जीवन की कुत्सा देखकर हमारा हृदय कॉप जाता है, पर एक अतृप्त लिप्सा से नही भर आता।

यदि यथार्थ को केवल इतिवृत्त का क्रम मान लिया जावे, तो भी व्यक्तिगत भावभूमि पर अपनी स्थिति रखकर ही वह काव्य के उपयुक्त सवेदनीयता पा सकता है। इस भावभूमि से सर्वथा निर्वासित इतिवृत्त का सबसे उपयुक्त आश्रयस्थल इतिहास ही रहेगा।

चरम सीमा पर यथार्थ जैसे विक्षिप्त गतिशील है, वैसे ही आदर्श निष्क्रियता मे स्थिर हो जाता है। एक विविध उपकरणो का बवडर है और दूसरा पूर्ण निर्मित पर अचल मूर्ति। साधारणत जीवन मे एक ही व्यक्ति यथार्थदर्शी भी है और आदर्श स्रष्टा भी, चाहे उसका यथार्थ कितना ही अपूर्ण हो और आदर्श कितना ही सकीर्ण। जीवन की ऐसी स्थिति की कल्पना तो पशुजगत् की कल्पना होगी, जिसमे बाह्य ससार का ज्ञान मनुष्य के अन्तर्जगत् मे किसी सम्भाव्य ससार की छाया नही ऑकता। जो है, उसके साथ हमारे सक्रिय सहयोग के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि इसे कैसा होना चाहिए।

ससार से आदान मात्र मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नही देता, उसे प्रदान का भी अधिकार चाहिए और इस अधिकार की विकसित चेतना ही आदर्श का पर्याय है। छोटा-सा बालक भी दूसरे की दी हुई वस्तुओ को ग्रहण करने के लिए जितना

उत्सुक होगा, उन्हे अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार रखने, जोडने-तोडने आदि के लिए भी उतना ही आकुल मिलेगा। सभ्यता, समाज, धर्म, काव्य आदि सभी मनुष्य और संसार के इसी चिरन्तन आदान-प्रदान के इतिहास है।

साधारण रूप से आदर्श से यही समझा जाता है कि वह सत्य की जय, असत्य की पराजय आदि आदि जीवन मे असम्भव पर कल्पना मे सम्भव कार्य-कारण का नाम है। इस धारणा के कारण है। सम्भाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर्जगत् के संस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते रहते हैं, इसी से समय-समय पर धर्म, नीति आदि ने उन्हे अपने विकास का साधन बनाया। जिस युग का प्रधान लक्ष्य धर्म रहा, उसमें सत्य, त्याग आदि गुणो के आदर्श चरमसीमा तक पहुँचकर ही सफल हो सके। जिस युग का दृष्टिविन्दु सामाजिक विकास था, उसमें कर्तव्यसम्बन्धी आदर्श उच्चतम सीमा तक पहुँच गये। जिस समय संघर्ष की सफलता ही अभीष्ट रही, उस समय जय के आदर्श की उज्ज्वलता में साधनो की मलिनता भी छिप गयी। जब, जो विशेषता आवश्यक नही रही, तब उससे सम्बन्ध रखनेवाला असाधारण आदर्श, जीवन के पुरातत्त्व विभाग की स्थायी सम्पत्ति बना दिया गया और साधारण आदर्श गौण रूप से प्रयोग मे आता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध मे हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का कोई स्थान नही, राम के संघर्ष मे बुद्ध की अहिंसा का कोई महत्व नही।

युग-विशेष मे उत्पन्न कवियो ने भी अपने युग के आदर्श को असाधारणता के साथ काव्य मे प्रतिष्ठित किया। इतना ही नही, वह आदर्श कही भी पराजित न हो सके, इसकी ओर भी उन्हे सतर्क रहना पड़ा। फिर भी यह सत्य है कि वे एकांगी नही हो सके।

काव्य हमारे अन्तर्जगत् मे मुक्ति का ऐसा अनुभव कर चुकता है कि उससे बाह्य जगत् के संकेतों का अक्षरशः पालन नही हो पाता। रामायणकार ऋषि का दृष्टिविन्दु कर्त्तव्य के युग से प्रभावित था अवश्य, पर उसने युग के प्रतिनिधि कर्तव्यपालक की भी त्रुटियों को छिपाने का प्रयास नही किया। राजा के चरम आदर्श तक पहुँचकर भी यह जब साध्वी पर परित्यक्त पत्नी की फिर अग्निपरीक्षा लेना चाहता है, तब वह नारी उस कर्तव्यपालक के पत्नीत्व के बदले मृत्यु स्वीकार कर लेती है। जीवन के अन्त के एकांगी कर्तव्य की जैसी पराजय ऋषिकवि ने अंकित की है, उसकी रेखा-रेखा मे मानो उसका भ्रू-भंग कहता है—बस इतना ही तो इसका मूल्य था।

विजय केन्द्रविन्दु होने पर भी महाभारत मे असत्य साधनों को उज्ज्वलता नही मिल सकी। संघर्ष सफल हो गया, कहकर भी कवि ने उस सफलता की उजली

रेखाओं में ग्लानि का इतना काला रग भर दिया है कि विजयी ही नही आज का पाठक भी कॉप उठता है।

जीवन के प्रति स्वय आस्थावान् होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श वनकर उपस्थित होता है। शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल सौन्दर्य और सहज विश्वास की हत्या है, उसे कवि कल्पना मे भी नही अगीकार करेगा, पर उस सौन्दर्य और विश्वास को ठुकराने वाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप मे से वह लेशमात्र भी नही घटाता। इतना ही नही, जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन मे अनायास ही हो गयी थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पडता है और दिव्यभूमि पर, अपराधी याचक के रूप मे खडा भी होना पडता है।

साराश यह कि अपने युगसीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते रहे है। जैसे शिष्य के बनाये पूर्ण चित्र मे भी कलाकार-गुरु अपनी कुशल उँगलियो मे थमी तूली से कुछ रेखाएँ इस तरह घटा-बढा देता है, कही-कही रग इस तरह हल्के गहरे कर देता है कि उसमे एक नया रहस्य यत्र-तत्र झलकने लगता है, वैसे ही प्राचीन ऋषि कवियो ने अपने युग की निश्चित रेखाओ और पक्के रगो के भीतर से युगयुगान्तरव्यापी जीवनरहस्य को व्यक्त कर दिया है। आज का युग उनसे इतना दूर है कि उस रहस्यलिपि को नही पढ पाता, अत केवल निश्चित रग-रेखा को ही सब कुछ मान बैठता है।

आधुनिक युग मे बुद्धि का आदर्श भी वैसा ही असाधारण हो गया है, जैसा किसी समय सत्य, त्याग, कर्तव्य आदि का था। सत्य की विजय अनिवार्य है या मिथ्या का बुरा परिणाम अवश्यम्भावी है आदि मे कार्य-कारण की सम्भाव्य स्थिति भी निश्चित मान ली गयी है। परन्तु बौद्धिक विकास की चरम सीमा ही मनुष्य की पूर्णता है, भौतिक उत्कर्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, आदि मे भी वैसा ही कल्पित कार्य-कारण सम्बन्ध है, क्योकि जीवन मे न तो सब जगह बुद्धिवादी ही पूर्ण मनुष्य है और न भौतिक विकास का चरमबिन्दु जीवन की एकमात्र सार्थकता है। जब हमारा युग भी अतीत युगो मे स्थान पा लेगा, तब नवागत युग हमारे असाधारण बौद्धिक और भौतिक आदर्शो को उसी दृष्टि से देखेगा, जिस दृष्टि से हम अपने अतीत-आदर्श-वैभव को देखते है।

आधुनिक युग के आदर्शो मे ही असाधारणता नही, उनकी काव्य-स्थिति भी वैसी ही एकागी है। आज का कवि भी अपने युग के आदर्शो को काव्य मे प्रतिष्ठित करता है और उनकी एकान्त विजय के सम्बन्ध मे सतर्क रहता है। पर आदर्श को सकीर्ण अर्थ मे न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और

सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति का भावनमात्र मान ले, तो वह हमारे एकागी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को सन्तुलन दे सकता है।

आज के युग के सामने निर्माण का जैसा विस्तृत और अनेकरूपात्मक क्षेत्र है, उसे देखते हुए हम आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी प्रश्नो को बौद्धिक व्यायाममात्र नही मान सकेगे।

कोई भी जाति अपने देशकालगत यथार्थ के निरीक्षण और परीक्षण के बिना वर्तमान का मूल्याकन नही कर पाती और सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना के बिना भविष्य की रूपरेखा निश्चित करने मे असमर्थ रहती है। यह कार्य साहित्य और कला के क्षेत्र मे जितना सहज, सुन्दर और सप्रेषणीय रूप पा लेता है, उतना जीवन के अन्य क्षेत्रो मे सम्भव नही। सच्चा कलाकार व्यावसायिक कम पर संवेदनशील अधिक होता है, अत उसकी दृष्टि यथार्थ के सम्बन्ध मे सन्तुलित और आदर्श के सम्बन्ध मे व्यापक रहकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है। लक्ष्य से ऊपर दृष्टि रखकर हम लक्ष्यवेध करने मे समर्थ हो सकते है, पर उससे नीचे दृष्टि को केन्द्रित कर लक्ष्य को छू पाना भी सम्भव नही।

हमारा सुन्दर स्वप्न और उसे साकारता देने का दृढ सकल्प हमारे सूक्ष्म मनोजगत् मे मुक्त है, परन्तु हमारी क्रिया, शारीरिक शक्ति और व्यवहार-जगत् की परिस्थितियो से सीमित रहेगी। अपनी शक्ति और विशेष परिस्थितियाँ एक व्यक्ति दूसरे को दे नही पाता, पर अपने स्वप्न को अखण्ड सौंदर्य के साथ और अपने संकल्प को सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग के साथ वह दूसरे के अन्तर्जगत् मे इस तरह सप्रेषित कर सकता है कि दूसरा व्यक्ति अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार उन्हे साकारता देने के लिए विकल हो उठे। कलाकार की प्रेरणा भी ऐसी ही अन्तर्मुखी होती है, अत इसे सक्रियता देने के लिए यथार्थ का ज्ञान ही नही, सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श का भावन भी आवश्यक रहेगा।

# सामयिक समस्या

• •

हमारे आधुनिक जागरण-युग की प्रेरणा दोहरी है—एक वह जिसने अन्तर की शक्तियो को फिर से नापा-तोला, जीवन के विषम-खण्डो मे व्याप्त एकता को पहिचाना तथा मानसिक सस्कार को प्रधानता दी और दूसरा वह जिसने यथार्थ जीवन के पुनर्निर्माण की दिशा की खोज की, उसमे नवीन प्रयोग किए और अन्तर की शक्तियो को कर्म मे साकारता दी। यह दोनो क्रम मिलकर विकास पाते रहे है, अतः यह कहना कठिन है कि एक की सीमा का अन्त कहाँ होता है और दूसरे का आरम्भ का विन्दु कहाँ है, परन्तु इन दोनो प्रवृत्तियो ने आदर्श और यथार्थानुगत दो विभिन्न विचारधाराओ को गति दी है।

छायायुग का काव्य द्विवेदी-युग के आदर्शात्मक उपयोगितावाद के विरोध मे उत्पन्न और नवीन जागरण की आलोक-छाया मे विकसित हुआ। इसी से अन्तर की ओर झाँकने की प्रवृत्ति उसका स्वभाव है और यथार्थोन्मुख इतिवृत्तात्मकता का उसमे अभाव है। सामयिक परिस्थितियाँ भी इस प्रवृत्ति के विकास मे सहायक हुई। यह प्रवृत्ति प्रत्यक्षत हृदय और परोक्षत बुद्धि का सहारा लेकर कभी व्यक्तिगत हर्ष-विषाद और कभी समष्टिगत करुणा को सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करने लगी। यथार्थ जीवन की विषमता का चित्र न देकर कवियो ने कही विषमता के प्रभाव और कही सामञ्जस्य के भाव को वाणी दी है, पर इतिवृत्तात्मक यथार्थ का प्रश्न भी उनके मन मे बार-बार उठता रहा। रहस्योपासक प्रसाद का 'ककाल' जैसा उपन्यास, दार्शनिक रचनाओ के आचार्य निराला की भिखारी जैसी रचनाएँ और व्यगभरा गद्य, पल्लव के कवि की पाँच कहानियाँ आदि मे अन्तर्मुखी प्रेरणा का यथार्थ से परिचय है। भावभूमि पर परम सुकुमार ये कवि तर्कभूमि पर

कितने कठोर हो जाते हैं, इसे बिना जाने हम छायावाद के साथ न्याय न कर सकेंगे।

आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवाद जब अनुभूतियो को भावभूमि से हटाकर तर्कभूमि पर प्रतिष्ठित करने लगा, तब हमें वह यथार्थवादी काव्य प्राप्त हो सका, जो बुद्धि की प्रधानता के कारण नया, पर यथार्थोन्मुखी प्रेरणा के कारण पुराना कहा जायगा। सफल यथार्थ काव्य के लिए अनुभूतियो को कठोर सत्यों का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया मे रखना उचित था, जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।

गद्य तार्किक सत्य दे सकता है, पर काव्य से सत्य का रागात्मक रूप ही अपेक्षित रहेगा। जीवन की विषमता का समाधान खोजने मे व्यस्त कवि उस स्पष्ट सत्य की ओर ध्यान देने का अवकाश न पा सके, अतः शुष्क तर्कवादिनी पद्यावली ही अनुभूति का नवीन माध्यम बनने लगी। उसमे मर्मस्पर्शिता का जो अभाव मिलता था, उसे काव्य की त्रुटि न मानकर नवीनता का अनिवार्य परिणाम मान लिया गया। कहना व्यर्थ होगा कि इस कार्य-कारण मे कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नही। आज से सहस्रो वर्ष पूर्व लिखित काव्यो की सर्वथा भिन्न परिस्थितियाँ और अपरिचित इतिवृत्त, जब हमारे हृदय को प्रभावित कर सकते है तब अपने युग के यथार्थ मे प्रभविष्णुता का अभाव अपरिचयमूलक नही माना जा सकता। छायावाद स्वयं एक अति परिचित और प्रतिष्ठित काव्य-धारा से भिन्न नवीन रूप मे उपस्थित हुआ था, पर उसे हृदय तक पहुँचते देर नही लगी। भाव के माध्यम से आनेवाली अलौकिक अनुभूतियाँ भी इतनी परिचित हो सकी कि उनकी उपयोगिता के प्रति सदिग्ध यथार्थवादी भी उनके माधुर्य और मर्मस्पर्शिता को अस्वीकार नही कर पाता।

साधारणतः कवि की प्रथम रचना मे छन्द, भाषा आदि की त्रुटियाँ रहने पर भी ऐसा भावातिरेक मिलता है, जो अन्य प्रौढ रचनाओ मे सुलभ नही। छायायुग के कवियो ने अपनी किशोरावस्था मे जो काव्य-सृजन किया है, वह भावाविक्य के कारण शुद्ध काव्य की दृष्टि से विरोधियो की कसौटी पर भी खरा उतरता है। पर भाव और सवेदनीयता की न्यूनता के कारण नवीन रचनाएँ इतनी अशक्त है कि उनके समर्थक नवीनता की दोहाई देकर उन्हे निष्पक्ष कसौटी से भी बचाने का प्रयत्न करते है।

इसे काव्य की ऐसी त्रुटि कहना चाहिए जो सब काल और सब विचारधाराओ मे सम्भव होने के कारण विषय-निरपेक्ष रहेगी। इन रचनाओ ने मस्तिष्क को चिन्तन की सामग्री भले ही दी हो, पर हृदय को उसमे अपने अभाव की कोई पूर्त्ति प्राप्त न

हो सकी। परिणामत. जैसे ठंढे जल की धारा के नीचे जाते ही गर्म जल की धारा ऊपर की सतह पर आ जाती है, उसी प्रकार काव्य की मूल प्रेरणा के दबते ही सस्ती उत्तेजना-प्रधान रचना अपना परिचय देने लगी। बुद्धि ने जिस हृदय की उपेक्षा कर डाली, उसी को चचल बनाने का लक्ष्य लेकर यह काव्य यथार्थ का उत्तेजक पर कुत्सित पक्ष समाने रखने लगा। ऐसा यथार्थवाद, आदर्श और उपयोगिता को महत्त्व देनेवाले पिछले युग मे भी उपस्थित था। अन्तर केवल इतना ही है कि वह सुधार का लक्ष्य सामने कर अपनी वाञ्छनीयता को प्रमाणित करता था और यह प्रगति का प्रश्न आगे रखकर अपनी अवाञ्छनीय स्थिति का समर्थन चाहता था। जिस युग मे काव्य हृदय का साथ छोडकर स्वस्थ होने की इच्छा रखता है, उसमे उसे प्राय· उत्तेजक स्थूल की बैसाखी के सहारे चलना पडता है और इस प्रकार वह रहे-सहे स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है।

जिन्हे यथार्थ का उत्तेजक रूप उपयुक्त नही जान पडा, उन्होने पिछले युग की राष्ट्रीय भावना को नवीन रूप मे व्यक्त किया—इस प्रकार हमे कुछ नवीन और कुछ पुरातन विचार-धाराओ के सयोग से आज के काव्य की रूपरेखा मिल रही है।

साधारणत. नवीन काव्यधारा ने अभी छायावाद की बाह्य रूपरेखा नही छोडी, केवल शब्दावली, छन्द, ध्वनि आदि मे एक निरन्तर सतर्क शिथिलता लाकर उसे विशेषता मान लिया है। अपने प्रारम्भिक रूप मे ही यह रचनाएँ पर्याप्त भिन्नता रखती है, जिससे हम उनमे व्यक्त विभिन्न विचारधाराओ से सहज ही परिचित हो सकते है।

इस काव्य की एक धारा ऐसी चिन्तन प्रधान रचनाओ को जन्म दे रही है, जिनमे एक ओर विविध बौद्धिक निरूपणो के द्वारा कुछ प्रचलित सिद्धान्तो का प्रतिपादन होता चलता है और दूसरी ओर पीडित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति का व्यक्तीकरण। इन रचनाओ के मूल मे वर्त्तमान व्यवस्थाओ की प्रतिक्रिया अवश्य है, परन्तु वह मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियो मे उत्पन्न न होकर, उसके ठढे चिन्तन मे जन्म और विकास पाती है, अत· उसमे आवश्यक भावप्रवेग का नितान्त अभाव स्वाभाविक है।

दूसरी धारा मे पिछले वर्षो के राष्ट्रीय गीतो की परम्परा ही कुछ अतिशयोक्ति और उलटफेर के साथ व्यक्त हो रही है। ऐसी रचनाओ मे कवि का अहकार स्वानुभूत न होकर रूढि मात्र बन गया है। इसी से वह प्रलयकर, महानाश की ज्वाला आदि रूपको मे व्यक्त क्षणिक उत्तेजना मे फुलझडी के समान जलता-बुझता रहता है। असख्य निर्जीव आवृत्तियो के कारण यह शब्दावली अपना प्रभाव खो

चुकी है, कवि जब तक सच्चाई के साथ इसमे अपने प्राण नही फूंक देता, तब तक यह कविता के क्षेत्र मे विशेष महत्त्व नही पाती।

तीसरी काव्यधारा की रूपरेखा आदर्शवाद की विरोध-भावना मे बनी है। इसमे एक ओर यथार्थ की छाया मे वासना के वे नग्न चित्र है, जो मूलत. हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखते है और दूसरी ओर जीवन के, वे घृणित कुत्सित रूप, जो हमारी समष्टिगत चेतना के अभाव से उत्पन्न है। एक मे भावना की परिणति का अभाव है और दूसरे मे सवेदनीय अनुभूति का; अत. यह कृतियाँ हमारे सामने केवल एक विचित्र चित्रशाला प्रस्तुत करती है।

यथार्थ का काव्यगत चित्रण सहज होता है, यह धारणा भ्रान्तिमूलक ही प्रमाणित होगी। वास्तव मे यथार्थ के चितेरे को अपनी अनुभूतियो के हल्के से हल्के और गहरे से गहरे रगो के प्रयोग मे बहुत सावधान रहना पडता है, क्योकि उसका चित्र आदर्श के समान न अस्पष्ट होकर अग्राह्य हो सकता है और न व्यक्तिगत भावना मे बहुरगी। वह प्रकृत न होने पर विकृत के अनेक रूप-रूपान्तरो मे से किसी एक मे प्रतिष्ठित होगा ही। यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पडता है, जहाँ से वह हमे जीवन के भिन्नवर्णी चित्र ही नही देती, प्रत्युत उनमे व्यक्त जीवन के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक सवेदन भी देती है। घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण सवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति मे यथार्थवाद ने हमे क्या दिया है, इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्नरूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते है।

भविष्य मे यथार्थ की जो दिशा होगी, उसकी कल्पना अभी समीचीन नही हो सकती।

इतना स्पष्ट है कि श्रमिको का वाणी मे बोलनेवाली यह कविता ऐसे मध्यम वर्ग के कंठ से उत्पन्न हो रही है, जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित और अपने जीवन की विषमता से पूर्णत क्लान्त है, अत इसे समझने के लिए उसी वर्ग की पृष्ठभूमि चाहिए। हमारा जातीय इतिहास प्रमाणित कर देगा कि सास्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह वर्ग बदलती हुई परिस्थितियो से उच्चवर्ग की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। सख्या मे हल्के और सुविधाओ मे भारी उच्च-वर्ग ने किसी भी सघर्ष मे अपनी स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया है। मध्ययुग मे विजेताओ से कुछ समय तक सघर्ष कर तथा सख्या मे कुछ घट कर जब उच्चवर्ग फिर पुरानी स्थिति मे आ गया, तब मध्यमवर्ग की समस्याएँ ज्यो की त्यो थी। उनमे से कुछ ने राजदरबारो मे शृगार और विलास के राग गाये, कुछ ने

जीवन को भक्ति और ज्ञान के पूत धाराओ मे निमज्जित कर डाला और कुछ फ़ारसी पढ-पढकर मुंशी बनने लगे।

उसके उपरान्त फिर इसी इतिहास की आवृत्ति हुई। जब उच्चवर्ग पाश्चात्य शासको की वरद छाया मे अपने पुराने फीके जीवन पर नयी सभ्यता का सुनहला पानी फेर रहा था, तब मध्यम वर्ग मे अधिकाश के जीवन मे अँगरेजी सीखकर केवल क्लर्क बनने की साधना वेगवती होती जा रही थी। इस साधना की सफलता ने उसे यन्त्र मात्र ही रहने दिया, पर तब भी उसकी यह धारणा न मिटी कि उसका और उसकी सन्तान का कल्याण केवल इसी दिशा मे रक्षित है।

इस बीच मे सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास के लिए नयी प्रेरणा मिलने का कही अवकाश ही न था। पुरानी जीर्ण-शीर्ण व्यवस्थाओ के भीतर हमारा सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर विकृत होने लगा। सस्कृति के नाम पर जो कुछ प्रचलित रूढियाँ थी, वे जीवन मे और कोई द्वार न पाकर धर्म और साहित्य मे फैलने लगी। इस पक मे कमल भी खिले अवश्य, परन्तु इससे जल की प किलता मे अन्तर नही पड़ता।

ऐसे ही समय मे भारतेन्दु-युग की कविता मे बिखरे देशप्रेम को हमारी राष्ट्रीय भावना मे विकास पाने का अवसर मिला। साधारणत जीवन की व्यष्टिगत चेतना के पश्चात् ही समष्टिगत राष्ट्रीय चेतना का उदय होना चाहिए। परन्तु साधन और समय के अभाव मे हम इस चेतना का आवाहन केवल असुविधाओ के भौतिक धरातल पर ही कर सके, इसी से शताब्दियो से निर्जीवप्राय जनसमूह सक्रिय चेतना लेकर पूर्णरूप से अब तक न जाग सका।

मध्यवर्ग का इस जागृति मे क्या स्थान है, यह बताने की आवश्यकता नही, परन्तु इसके उपरान्त भी उसकी स्थिति अनिश्चित और जटिलतर होती गयी। हमारी राष्ट्रीय चेतना एक विशेष राजनीतिक ध्येय को लेकर जाग्रत हुई थी, अतः जीवन की उन अन्य व्यवस्थाओ की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नही मिला, जो जीवन की व्यष्टिगत चेतना से सम्बन्ध रखती थी।

यह स्वाभाविक ही था कि जीवन की बाह्य व्यवस्था मे विकास न होने के कारण हमारी सब प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर हमारे भावजगत् को अत्यधिक समृद्ध कर देती। छायावाद और रहस्यवाद के अन्तर्गत सूक्ष्मतम अनुभूतियो के कोमलतम मूर्त्त रूप, भावना के हल्के रगो का वैचित्र्य, वेदना की गहरी रेखाओ की विविधता, करुणा का अतल गाम्भीर्य और सौन्दर्य का असीम विस्तार, हमारी उपर्युक्त धारणा का समर्थन कर देते है। परन्तु इन सौन्दर्य और भावना के पुजारियो को भी उसी निष्क्रिय सस्कृति और निष्प्राण सामाजिकता

मे अपना पथ खोजना पडा है। वे मध्य युग के सन्त नही है, जो 'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' कहकर बाह्य जीवन-जनित निराशा से बच जाते।

इनके साथ उस नवीन पीढी का उल्लेख भी उचित होगा, जो निम्न मध्य वर्ग मे पली और जीवन का अधिकाश जीवन को भुलाने मे बिताकर ससारयात्रा के लिए स्वप्न और भावुकता का सम्बल लिये हुए विद्यालयो से बाहर आयी। जीवन की व्यवस्था मे अपनी स्वप्न-सृष्टि का कोई स्थान न पाकर उनकी मानसिक स्थिति मे जो परिवर्तन हुआ, वह अनेकरूपी है। इनमे से कुछ के अनमिल स्वर हमे छायावाद की रागिनी मे सुन पड़ते है और कुछ के प्रगतिवाद के गद्य मे। गान्धीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, आदि ने भी उन्हे प्रवाह मे पडे हुए पत्थर जैसी स्थिति दे दी है क्योकि उनमे से किसी विचारधारा के साथ भी वे अपने जीवन का पूर्ण तादात्म्य नही कर पाते।

इस प्रकार के सामूहिक असन्तोष और निराशा की पृष्ठभूमि पर, जो प्रतिक्रियात्मक काव्य-रचना हो रही है, वह बौद्धिक निरूपणो से बोझिल है। जिन व्यवस्थाओ मे जीवन को उपयुक्त समाधान नही मिला, उनकी कला-कसौटियो और काव्य के उपादानो पर उसे खीझ है। वास्तव मे इस प्रगति के भीतर मध्यवर्ग की क्राति ही गतिशील है। कवियो ने कुछ साम्यवाद के प्रतीको के रूप मे, कुछ ग्रामो की ओर लौटने की देशव्यापी पुकार से प्रभावित होकर और कुछ अपनी सहज सवेदना से, जिस पीडित, दलित और अपनी वेदना मे मूर्च्छित वर्ग को काव्य का विषय बनाया है, उसके जीवन मे वे घुल-मिल नही सके। इसी से कही वह बुद्धि की दौड के लिए मैदान बन जाता है, कही भावनाओ को टॉगने के लिए खूँटी का काम देता है और कही निर्जीव चित्रो के लिए चेतनाहीन आधार बन कर ही सफलता पाता है। अवश्य ही करुणा को भी रुला देनेवाले इस जीवन के कुछ सजीव चित्रण हुए है, परन्तु वे नियम के अपवाद जैसे है।

इतिहास के क्रम मे हमारी विचार-श्रृखला की कडी बनकर तो यह यथार्थवाद सदा ही रह सकता है, पर काव्य मे अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसे कला की रूपरेखा मे बँधना ही पडेगा। छायावाद-युग की सूक्ष्म अनुभूतियो की अभिव्यञ्जना-शैली चाहे उसके लिए उपयुक्त न हो, परन्तु कला के उस सहज, सरल और स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रति उसकी सतर्क विरक्ति उचित नही, जो जीवन के घृणित कुत्सित रूप के प्रति भी हमारी ममता को जगा सकता है।

इसके अतिरिक्त विचारो के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक साधनो से युक्त युग मे, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमे अपने केवल बौद्धिक निरूपणो और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धान्तो के प्रतिपादन

के लिए कविता की आवश्यकता नही रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गायी जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि मे आ सकती है और न गीत की सीमा मे, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेगे।

यथार्थदर्शी कवि यदि अपने ही समाज के जीवन को बहुत सचाई से व्यक्त करता, तो शुष्क सिद्धान्तवाद के स्थान मे सजीवता और स्वाभाविकता रहती। पर उस जीवन के साथ कवि की स्थिति वैसी ही है, जैसी नीम के तने से फूट आनेवाली पीपल की शाखा की। वह नाम से चाहे पीपल कहलाये, परन्तु अपने पोषण के लिए तो उसी नीम पर आश्रित रहेगी, अत नीम से भिन्न उसकी स्थिति शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही। अपने समाज की सृष्टि होने के कारण वह उस जीवन की कृत्रिमता और विषमता के स्पर्श से रहित नही और जब अपनी ही विरूपता का विस्तार या सकोच देखना हो, तो न दर्पण का आकाश विशेष आकर्षण रखता है, न छोटी आरसी।

उपर्युक्त परिस्थितियो मे कवि ने जिस चिर उपेक्षित मानवसमष्टि से बल प्राप्त करना चाहा, उसके प्रति भी उसके दो कर्तव्य आवश्यक हो उठे—एक तो उस जीवन को इतनी सजीवता से चित्रित करना कि उपेक्षा करनेवाले उस ओर देखने पर विवश हो और दूसरे उन मानवो मे इतनी चेतना जाग्रत करना कि वे स्वय अपना महत्त्व समझे और दूसरो को समझा सके। दोनो ही लक्ष्यो तक पहुँचने के लिए उस जीवन का निकट परिचय, पहली सीढी है।

यदि आज का कवि अपनी बौद्धिक ऊँचाई से उनकी निम्न भूमि पर उतर सकता तो उस धरातल के जीवो के कण्ठ मे वाणी आ जाने की भी सम्भावना थी और इनके कण्ठ मे सत्य का बल आ जाने की भी। उस स्थिति मे उस जीवन के चित्र इतने सजीव और बोलते हुए बन जाते कि उपेक्षा करनेवाले न उन्हे अनदेखा कर पाते न अनसुना। यह उससे नही हो सका, क्योकि मनुष्य का अहकार ऐसा है कि प्रसादो का भिखारी कुटी का अतिथि देवता बनना भी स्वीकार नही करेगा।

केवल बौद्धिक चेतना के कारण यथार्थोन्मुख कवि ने उस पीडित-जीवन के मानचित्र और विकृतियो की रेखागणित लेकर ही कार्य आरम्भ किया था। जैसे-जैसे ये साधन अधिक अपटु और कम सहृदय व्यक्तियो के हाथ मे पडते जाते है, वैसे-वैसे अपने सकेत और सार्थकता खोते जाते है। दलित जीवन की सुनी-सुनाई शोक-कथा का जैसा प्रदर्शन होता है, वह आँसुओ के अभाव और शरीर के व्यायाम से भरे-पूरे स्यापे के निकट आता जा रहा है, जिसमे मृतक के गुण गा-गाकर उसकी परोक्ष आत्मा को शोकाञ्जलि दी जाती है। सिद्धान्तो की रक्षा इस प्रकार हो सकती है, परन्तु प्रेरणा सम्बन्धी समस्या का तो यह समाधान नही।

इन अधूरे चित्रों का आधार तो उस बलिपशु के समान है, जो न देवता का ज्ञान रखता है, न कुमकुम-फूल चढ़ानेवाले को जानता है और न वधिक को पहचानता है।

जहाँ तक उपेक्षा करनेवालों का प्रश्न है, वे तो युगों से इन स्पन्दित कंकालों को देखते आ रहे है। जब यही उनके हृदय को नही छू पाते, तब कोरे सिद्धान्त उन्हे कैसे प्रभावित करेगे! उनके कठोर स्तरों के भीतर एक हृदय होने की सम्भावना है, परन्तु उसे संवेदनशील बनाने के लिए जीवन का बहुत निश्चित और मार्मिक स्पर्श चाहिए, केवल प्रवचन और व्याजनिन्दा नही। इसके अतिरिक्त जीवन-सम्पर्क से शून्य सिद्धान्तवाद ही विकृति की उर्वरा भूमि है। समाज, धर्म, नीति साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र मे सिद्धान्त, जीवनव्यापी सत्य का प्रयोगरूप होकर ही उपस्थित हो सकते हैं, अत उनके प्रयोक्ता जीवन की जितनी गहरी अनुभूति रखते है, उतना ही व्यापक ज्ञान। उनके परवर्ती आलस्य और प्रमादवश ज्यो-ज्यो जीवन से दूर हटते जाते हैं, त्यो-त्यो लीक पीटने की परम्परा ही गति का पर्याय बनती जाती है।

आज के सिद्धान्त कल्याणोन्मुख होने पर भी यदि जीवन की दूरी मे ही जन्म और विकास पा रहे हैं, तो उनका भविष्य और भी संदिग्ध हो जाता है। यदि इस अभिशप्त युग का सन्तप्त पर प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार ही जीवन के निकट सम्पर्क को नही सह सकता, तो उसके अनुगामी, इस अनायास मिली परम्परा को छोडकर जीवन खोजने जा सकेंगे, ऐसा विश्वास कठिन है।

और यह तो निश्चित ही है कि आज का सिद्धान्त यदि जीवन के स्पर्श से निरन्तर नवीनता न पाता रहे तो कल रूढ़ि मात्र रह जायगा। इसके अतिरिक्त हमारी विकृति के मूल मे अर्थ के साथ वह जातीयता भी है, जो जन्म से ही एक को पवित्र और पूजार्ह और दूसरे को अपवित्र तथा त्याज्य बना देती है। आज जीवन के निकट परिचय के साथ कवि मे उस अखण्डता का भावन भी अपेक्षित है, जो मनुष्य मनुष्य को एक ही धरातल पर समानता दे सके।

यथार्थवाद के पास दलित वर्ग को छोड़कर जो एक और चिरन्तन विषय रह जाता है वह है नारी। पिछला युग इसे बादल, तारे, सन्ध्या के रंग आदि में छिपा आया था, अत यथार्थ ने छाया-ग्राही बनकर उसे धूलि मे खीच ही नही लिया, वरन् वह, जीवन के सब स्तर दूर करके उसके कंकाल की नाप-जोख करना चाहता है। इस स्थिति का परिणाम समझने के लिए मानवी को, जीवन की पृष्ठभूमि पर देखना होगा।

नारी केवल मांसपिण्ड की संज्ञा नही है। आदिम काल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर उसके अभिशापो को

स्वय झेलकर और अपने वरदानो से जीवन मे अक्षय शक्ति भरकर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है, उसी का पर्याय नारी है। किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपो और शक्तियो की अवमानना नही की, परन्तु किसी भी मरणासन्न जाति ने, अपनी मृत्यु की व्यथा कम करने के लिए उसे मदिरा से अधिक महत्त्व नही दिया।

पिछले जागरण-युग ने अपने पूर्ववर्ती युग से जो जीव पाया था, उसे तो मानवी के स्थान मे, सौन्दर्य का ध्वस्त आविष्कार-विभाग कहना उचित होगा। खडी बोली के आदर्शवादी कवि ने मलिनता मे मिली पुरानी मूर्त्ति के समान उसे स्वच्छ और परिष्कृत करके ऊँचे सिहासन पर प्रतिष्ठित तो कर दिया, परन्तु वह उसे गतिशीलता देने मे असमर्थ रहा। छायायुग ने उस कठोर अचलता से शापमुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूर्त्त और अमूर्त्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति मे सौन्दर्य को एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त हो जाना सहज हो गया, पर वह व्यापकता जीवन की यथार्थ सीमारेखाओ को स्पष्ट न कर सकी।

आज के यथार्थवादी को उस सौन्दर्य के स्वप्न और शक्ति के आदर्श को सजीव साकारता देनी होगी। अत उसका कार्य व्यजनो के आविष्कारक से अधिक महत्त्वपूर्ण और सूक्ष्मता के उपासक से अधिक कठिन है।

जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है, वह आज इतनी सज्ञाहीन और पगु नही कि पुरुष अकेले ही उसके भविष्य और गति के सम्बन्ध मे निश्चय कर ले। हमारे राष्ट्रीय जागरण मे उसका सहयोग महत्त्वपूर्ण और बलिदान असख्य है। समाज मे वह अपनी स्थिति के प्रति विशेष सजग और सतर्क हो चुकी है। साहित्य को कुछ ही वर्षो मे उसकी सजीवता का जैसा परिचय मिल चुका है, वह भी उपेक्षणीय नही। इसके अतिरिक्त इस सक्रान्ति-काल मे सभी देशो की नारी अपने कठिन त्यागो से अर्जित गृह, सन्तान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुष की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नही।

ऐसे ही अवसर पर यथार्थवाद ने एक ओर नारी की वैज्ञानिक शव-परीक्षा आरम्भ की है और दूसरी ओर उसे उच्छृखल विलास का साधन बनाया है।

वैज्ञानिक परीक्षा के सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नारी ऐसा यन्त्र मात्र नही, जिसके सब कल-पुर्जो का प्रदर्शन ही, ज्ञान की पूर्णता और उनका सयोजन ही क्रियाशीलता हो सके। पुरुष व्यक्ति मात्र है, परन्तु स्त्री उस सस्था से कम नही, जिसके प्रभाव की अनेक दिशाएँ है और सृजन मे रहस्यमयी विविधता रहती है। वास्तव मे ससार का कोई भी महत्त्वपूर्ण सृजन बहुत स्पष्ट और निरावरण

नही होता। धरती के अप्रत्यक्ष हृदय मे अकुर की सृष्टि होती है, अन्धकार की गहनता के भीतर से दिन का आविर्भाव होता है और अन्तर की रहस्यमयी प्रेरणा से जीवन को विकास मिलता है। नारी भी स्थूल से सूक्ष्म तक न जाने कितने साधनो से, जीवन और जाति के सर्वतोन्मुखी निर्माण मे सहायक होती है।

निर्जीव शरीर-विज्ञान ही उसके जीवन की सृजनात्मक शक्तियो का परिचय नही दे सकता। वास्तव मे उसके पूर्ण विकासशील सहयोग को प्राप्त करने के लिए, वैज्ञानिक दृष्टि ही नही, हृदय का वह सस्कार भी अपेक्षित रहेगा, जिसके बिना मनुष्य का कोई सामाजिक मूल्य नही ठहरता।

और आज की परिस्थितियो मे, अनियन्त्रित वासना का प्रदर्शन स्त्री के प्रति क्रूर व्यग ही नही, जीवन के प्रति विश्वास-घात भी है।

नारी-जीवन की अधिकाश विकृतियो के मूल मे पुरुष की यही प्रवृत्ति मिलती है, अत आधुनिक नारी नये नामो और नूतन आवरणो मे भी उसे पहचानने मे भूल नही करेगी। उसके स्वभाव मे, परिस्थितियो के अनुसार अपने आपको ढाल लेने का सस्कार भी शेष है और उसके जीवन मे, दिनोदिन बढता हुआ विद्रोह भी प्रवाहशील है। यदि वह पुरुष की इस प्रवृत्ति को स्वीकृति देती है, तो जीवन को बहुत पीछे लौटा ले जाकर एक श्मशान मे छोड आती है और यदि उसे अस्वीकार करती है, तो समाज को बहुत पीछे छोड शून्य मे आगे बढ जाती है। स्त्री के जीवन के तार-तार को जिसने तोडकर उलझा डाला है, उसके अणु-अणु को जिसने निर्जीव बना दिया है और उसके सोने के ससार को जो धूलि के मोल लेती रही है, पुरुष की वही लालसा, आज की नारी के लिए, विश्वस्त मार्गदर्शिका न बन सकेगी।

छायावाद की छायामयी को आघात पहुँचाने के लिए यह प्रयोग ऐसा ही है, जैसा आकाश के रगो को काटने के लिए दो धारवाली तलवार चलाना, जो एक ओर चलानेवाले के हाथ थकाती रहती है और दूसरी ओर समीपवर्तियो को चोट पहुँचाती है। वे रग तो मनुष्य की अपनी दृष्टि मे घुले-मिले है। छाया-युग की नारी, पुरुष के सौन्दर्य-बोध, स्वप्न, आदर्श आदि का प्रतीक है। आज पुरुष यदि उस प्रतीक को जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता नही रखता, तो क्षम्य है। परन्तु अपनी ही अर्चित मूर्त्ति को पैरो तले कुचलने के लिए यदि वह जीवित नारी को अपनी कुत्सा मे समाधि देना चाहे, मधु-सौरभ पर पली हुई अपनी ही सृष्टि को आत्मसात् करने की इच्छा मे, नारी के अस्तित्व के लिए क्रव्याद बन जावे, तो उसका अपराध अक्षम्य हो उठेगा।

भारतीय पुरुष जीवन मे नारी का जितना ऋणी है, उतना कृतज्ञ नही हो सका। अन्य क्षेत्रो के समान साहित्य मे भी उसकी स्वभावगत सकीर्णता का परिचय

मिलता रहा है। आज का यथार्थ यदि सनातन अकृतज्ञता का ब्यौरेवार इतिहास वनकर तथा पुराने अपकारो की नवीन आवृत्तियाँ रचकर ही उऋण होना चाहता है, तो यह प्रवृत्ति वर्तमान स्थिति मे आत्मघातक सिद्ध होगी।

किशोरता जीवन का वह वर्षाकाल है, जो हर गढे को भरकर धरती को तरल समता देना चाहता है, हर बीज को उगाकर धूलि को हरा-भरा कर देने के लिए आतुर हो उठता है। पर वह जडो को गहराई देने के लिए नही रुकता, तट बनाने को नही ठहरता। इसके विपरीत प्रौढता उस शरद जैसी रहेगी, जो जल को तट देती है, पर सुखाकर रेत भी कर सकती है, अच्छे अकुरो को स्थायित्व देती है, पर विषैली जडो को भी गहराई दे सकती है। साधारणत किशोर अवस्था मे स्नेह के स्वप्न कोमल और जीवन के आदर्श सुन्दर ही रहते है—न उनमे वासना की उत्कट गन्ध स्वाभाविक है, न विकृत मनोवृत्तियो की पकिलता।

इस प्रकार नारी के सम्बन्ध मे उच्छृखल वासना, यथार्थवाद की किशोरता नही, वरन् प्रौढ और विकृत मनोवृत्तियो का अनियन्त्रित उन्माद प्रकट करती है।

किशोर कवि कोई स्वप्न न देखे, ऐसा नियम आलोचक नही बना पाया, पर वह कुरूप स्वप्न ही देखे, ऐसा नियन्त्रण उसके अधिकार मे है। फलत कवि दण्ड की परिधि के बाहर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को एक सौन्दर्य-लोक मे घुमाता रहता है और दण्ड की परिधि मे, उन्हे ससार भर की कुत्सित वेशभूषा मे उपस्थित कर देता है। एक ककाल की रेखाएँ खीचकर वह तीन सौन्दर्य-दृश्य आँक लेता है, एक मजदूरनी की शव-परीक्षा करके वह पाँच रहस्यमय स्नेहगीत गा लेता है और इस प्रकार अपने गृद्धदृष्टि आलोचक मे दृष्टिभ्रम उत्पन्न करता रहता है।

प्रौढ मस्तिष्क की कथा दूसरी है, क्योकि इस अवस्था मे बद्धमूल सस्कार ही विशेष महत्त्व रखते है। यदि उसके स्वभावगत सस्कार स्वस्थ और अविकृत है, तो वह जीवन की कुत्सा के भीतर मिले सत्य को भी स्पर्शमात्र से सुन्दर कर लेता है। और यदि अपने युग की विकृतियाँ और अस्वस्थ प्यास ही उसकी पूँजी है, तो वह उसे वढाने के लिए विकृत से विकृततर होता जायगा।

इस प्रकार आज का यथार्थोन्मुख काव्य एक वृत्त के भीतर गतिशील है। इस सकीर्ण वृत्त मे धर्म का वह विद्वेष भी उपस्थित है, जो मानव को मील का पत्थर और तिलक-छाप को चरम लक्ष्य मानता है, और राजनीति का वह विरोध भी मिलता है, जो अपनी रेखा के भीतर ककड-पत्थर को देवता कहता है और उससे वाहर खडे मनुष्य को कीट-पतग की सज्ञा देता है। आज की सभी विकृतिओ और संकीर्णताओ का एकमात्र उपाय जीवन मे घुलमिल जाना है। अपनी त्रुटि के

सम्वन्ध मे जो यह कहता है कि आज अवकाश नही, वह मानो उस त्रुटि को फैलने के लिए जीवनभर का अवकाश दे देता है। नष्ट करने योग्य वस्तुओ मे जीवन की विरूप छाया ही है, जो उस दिन स्वय वदल जायगी, जिस दिन यथार्थदर्शी सत्य का द्रष्टा होकर जीवन को सौन्दर्य से अभिषिक्त कर देगा। अपने युग का शिव बनने का इच्छुक कवि हलाहल पान के लिए ससारभर मे निमन्त्रण की याचना करके अपने ही शिवत्व को सदिग्ध बना रहा है।

मनुष्य की परुष वृत्तियो को ही नही, कोमल वृत्तियो को भी शक्ति बनाकर कवि अमर सृजन करता रहा है। विशेषत. हमारी चिरस्मरणीय विजयो के मूल मे, असम्भव सफलताओ के अन्तराल मे, स्नेह, करुणा जैसी कोमल भावनाएँ ही छिपी मिलती है। पर आज का यथार्थवादी कोमल भावनाओ को शक्ति न बना सकने के कारण ही, उन्हे भी मन की दुर्वलता मानकर स्वय दुर्बल वन जाता है। यह स्वय ओढा हुआ ऐसा अभिशाप है, जिसके लिए किसी से सहानुभूति पा सकना भी कठिन है।

विकासशील गति के सम्वन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह स्वास्थ्य का लक्षण है, व्याधि का नही। साधारणत सन्निपातग्रस्त मे स्वस्थ से अधिक अस्थिरता होती है। डाल मे लगे सजीव पत्ते से अधिक खरखराहट भरी गति उस सूखे पत्ते मे रहती है, जो आँधी पर दिशाहीन सरसर उडता घूमता है। टूटा हुआ तारा स्थायी तारे से अधिक सीधी-तीखी रेखा पर दौडता है।

शरीर से सबल, बुद्धि से निश्चित और हृदय से विश्वासी पथिक वही है, जो कही पर्वत के समान अडिग रहकर बवडर को आगे जाने देता है और कही प्रवाह के समान चञ्चल होकर शिलाओ को पीछे छोड आता है।

इस दिशा मे आलोचक का कर्त्तव्य जितना महत्त्वपूर्ण था, उतने उत्तरदायित्व के साथ उसका निर्वाह न हो सका।

छायावाद को तो शैशव मे कोई सहृदय आलोचक ही नही मिल सका। द्विवेदी-युग के सस्कार लेकर जो आलोचना चल रही थी, उसने नवीन कवियो को विक्षिप्त प्रमाणित करने मे सारी शक्ति लगा दी और नये कवियो ने अपने कठिनहृदय आलोचको को प्राचीनता का भग्नावशेष कहकर सतोष कर लिया। जब यह कवि अपने विकास के मध्याह्न मे पहुँच गये, तव उन्हे भक्त मिलना ही स्वाभाविक हो गया।

छायावाद एक प्रकार से अज्ञातकुलशील वालक रहा, जिसे सामाजिकता का अधिकार ही नही मिल सका। फलत उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्वन्ध जोडा और उसी सम्वन्ध को अपना परिचय बनाकर

मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद, बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है, जिसके आविर्भाव के साथ ही, आलोचक जन्मकुण्डली बना-बनाकर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा मे व्यस्त हो गये। स्वय उसके जीवन और विकास के लिए कैसे वायुमण्डल, कैसी धूप-छाया और कितने नीर-क्षीर की आवश्यकता होगी, इसकी उन्हे चिन्ता नही।

आज के कवि और आलोचक की परिस्थितियो मे विशेष अतर है। कवियो मे एक या दो अपवाद छोडकर शेष ऐसी अनिश्चित स्थिति मे रहे और रहते आ रहे है, जिसमे न लिखने का अनिवार्य परिणाम, उपवास-चिकित्सा है। इसके विपरीत आलोचको मे दो-एक अपवाद छोड़कर शेष की स्थिति इतनी निश्चित है कि लिखना, अध्यापन और स्वाध्याय का आवश्यक फल हो जाता है। वे अपने से उच्च वर्ग की गृह-परिग्रह-जीवन-सम्बन्धी सुविधाएँ देखकर खिन्न होते है अवश्य, पर यह खिन्नता जीवन की विशेष गहराई से सम्बन्ध नही रखती, अत उनका कार्य प्रस्ताव के अनुमोदक से अधिक महत्त्व नही रखता।

एक दीर्घकाल से हमारा बुद्धिजीवी वर्ग जीवन के स्वाभाविक और सजीव स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामत एक ओर उसका मस्तिष्क विचारो की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय, निर्जीव चित्रो का सग्रहालय मात्र रह जाता है। आलोचक भी इसी वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण पूजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लाये बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नही आती, क्योकि ऐसी पुकार स्वय उसी के जीवन को विरोधाभास बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह, एक अथक विवादैषणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नही दे सका, जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।

समाज के विभिन्न स्तरो से उसका सम्पर्क इतना कम और पीड़ित वर्ग से उसका परिचय इतना बौद्धिक है कि व्यक्तिगत सिद्धान्त-प्रियता, समष्टिगत जीवन की उपेक्षा बन जाती है। पीडितवर्ग की पूँजी से चाहे जितना व्यक्तिगत व्यापार चले उसका हृदय नही कसकता, गति के बहाने चाहे जीवन ही कुचल दिया जावे पर उसका आसन नही डोलता, यथार्थ के नाम पर नारी का क्रूर चीरहरण होता रहे, पर वह धृतराष्ट्र की भूमिका नही छोड सकता।

उसका कर्तव्य वैसा ही निश्चित और एकरस है, जैसा शस्त्र रखने का लाइसेन्स देनेवाले का होता है। लेनेवाला यदि निश्चित नियमो की परिधि मे आ जाता है, तो वह शस्त्र पाने का अधिकारी है, चाहे वह उसे चीटी पर चलावे, चाहे तारे पर और चाहे मारने के लिए कुछ न रहने पर आत्मघात करे। देनेवाले पर इसका

लेशमात्र भी उत्तरदायित्व नही। ज्यो-ज्यों आलोचक मे महाजन का तकाजेभरा आत्मविश्वास बढता जाता है, त्यो-त्यो कवि मे ऋणी का बहाने भरा दैन्य गहरा होता जा रहा है। नया कवि अपने अनेक वाणी मे बोलने वाले नये आलोचक से उतना ही आतकित है, जितना दरबारी कवि, राजा के षड्यन्त्रकारी मन्त्री से हो सकता था। ऐसी स्थिति मे साहित्य का स्वस्थ विकास कुछ सन्दिग्ध हो उठता है।

आज का प्रगतिवाद मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नही, वह काव्य मे उसका अक्षरश अनुवाद चाहता है, अत साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्त्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। गान्धीवाद की उदात्त प्रेरणा, छायावाद का सूक्ष्म सौन्दर्य, रहस्यवाद का भाव-माधुर्य आदि देखने का उसे अवकाश नही, क्योकि वह राजनीतिक दलो के समान साहित्यकारो का विभाजन कर अपने पक्ष मे बहुमत और दूसरे पक्ष मे अल्पमत चाहता है।

इस प्रवृत्ति का परिणाम स्पष्ट ही है। प्रथम कोई महान साहित्यकार ऐसे सकीर्ण घेरे मे ठहर नही सकता और दूसरे बहुमत की चिन्ता मे साहित्य के नाम पर ऐसी भरती स्वाभाविक हो जाती है, जैसी आज बिल्ला लगाने मे निपुण पर कर्तव्य मे अनिपुण सिविक गार्ड्स की हो रही है।

गान्धीवाद के राजनीतिक पक्ष ने भी श्रेष्ठ साहित्यकारो को बाँधने मे असमर्थ होकर अपने प्रचार के लिए एक विशेष साहित्यिक वर्ग सगठित कर लिया था, जो प्रथम श्रेणी का साहित्य देने मे समर्थ न हो सका। पर गान्धीवाद बाह्य दृष्टि से राष्ट्र का सयुक्त मोर्चा है और आन्तरिक दृष्टि से भारतीय सस्कृति का पुन-र्जागरण है। इसी से किसी भी विचार का कलाकार एक न एक स्थल पर उसका समर्थक है और किसी न किसी अग तक उससे प्रभावित है।

इसके विपरीत साम्यवाद अब तक एक राजनीतिक परिधि मे सीमित है और विशेष विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर सकता है। दूसरी विचार-धाराओ से विरोध, भारतीय जीवन से विच्छिन्नता और विदेशीय साहित्य के विशेषज्ञ पर अपनी सस्कृति के सम्बन्ध मे विशेष अज्ञ व्यक्तियो की उपस्थिति ने इस पक्ष को एक विशेष भूमिका दे डाली है। उसकी स्थिति ऐसी ही है, जैसी पैराशूट से इस धरती पर उतर आनेवाले रूसी की हो सकती थी, जिसकी मित्रता मे विश्वास करके भी हम जिसके इस देश-सम्बन्धी ज्ञान मे सन्देह करेगे जिसे अपनी सस्कृति और जीवन का मूल्य समझाने का प्रयत्न करेगे और न समझने पर खीझ उठेगे।

प्रगतिवादी साहित्य इस विचारधारा का साहित्यिक पक्ष है, अत उसके सम्बन्ध मे भी एक सदिग्ध मनोवृत्ति स्वाभाविक हो गयी। सगठन की दृष्टि से इसके समर्थको ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे प्रतिष्ठित अन्य विचार-धाराओ को

कोई महत्त्व देना स्वीकार नही किया, अत उनके निर्माण का लक्ष्य वैयक्तिक इच्छा के रूप मे उपस्थित हो सका। वैयक्तिक इच्छा व्यक्तिगत शक्ति और परिस्थिति से सीमित है, पर सामूहिक निर्माण का लक्ष्य शक्तियो के एकीकरण और परिस्थितियो के साधारणीकरण द्वारा व्यापकता चाहता है। समष्टिगत कल्याण-सम्बन्धी मतभेद जीवन की गहराई मे किस प्रकार एकता पा लेते है, इसका उदाहरण किसी भी विकासशील जाति मे मिल सकेगा, जहाँ सामूहिक सकट-काल मे परस्पर विरोधी राजनीतिक पक्ष तक निर्विवाद एक हो जाते है।

साहित्य मे इस नवीन धारा ने अपना उत्कृष्ट निर्माण सामने रखने से पहले ही उत्कृष्ट साहित्य-सृजन कर चुकनेवाली विचार-धाराओ की अनुपयोगिता प्रमाणित करने मे सारी शक्ति लगा दी, फलत साहित्यिक वातावरण विवाद से छिन्न-भिन्न होने लगा।

उत्कृष्ट सृजन ही किसी विचार-धारा की उत्कृष्टता का प्रमाण है, पर जब वह ऐसा प्रमाण न देकर अपने उत्कृष्ट सृजन के लिए दूसरो को नष्ट करने की शर्त सामने रखती है, तब स्वय अपनी हार मान लेती है। छायावाद की चिता चुन जाने पर ही नये काव्य को सुन्दर शरीर प्राप्त हो सकेगा, सजीव गान्धीवाद की शव-परीक्षा हो जाने पर ही नवीन साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा होना सम्भव है, ऐसी धारणाएँ शक्ति से अधिक दुर्बलता की परिचायक तो है ही, साथ ही वे एक अस्वस्थ मानसिक स्थिति का परिचय देती है।

विवाद जीवन का चिन्ह है और निर्जीवता का भी। लहरे बाहर से विविध किन्तु भीतर से एक रहकर जल की गतिशीलता प्रकट करती है, पर सूखते हुए पक की कठिन पडनेवाली दरारे भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा है। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी देख चुके है। हम राजनीतिक और सामाजिक सगठन करने चले और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादो ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान मे तीन भाषाओ की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापो से गुरु और दु खद है, क्योकि उनके मूल मे जीवन की ऊपरी सतह की विविधता नही है, वरन् वे उसकी अन्तर्निहित एकता का खण्डो मे बिखर कर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते है। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह स्थूल एकता रखता है, जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता

रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतन्त्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वय मिट जाना चाहेगा, पर उन्हे वना-वनाकर स्वय वनना उसे स्वीकार न होगा।

विकृतियो से सम्वन्ध रखनेवाले उत्तेजक यथार्थ की हम उपेक्षा कर सकते है, क्योकि जीवन के स्वस्थ होते ही यह प्रवृत्ति समाज विरोधिनी वन जायगी। कोई भी सशक्त विकासशील जाति अपने नागरिक और भावी नागरिक को ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति मे जीने का प्रोत्साहन देकर कोई नूतन निर्माण नही कर सकती। पर साम्यवाद से प्रभावित यथार्थ के सामने अनेक प्रश्न हैं। वह हमारे सास्कृतिक मूल्यो के प्रति कैसा दृष्टिकोण रक्खेगा, समाज के मूलाधार स्त्री-पुरुष के सम्वन्ध को वह किस रूप मे उपस्थित करेगा, जनसाधारण के जीवन तक पहुँचने के लिए वह कौन-सा माध्यम स्वीकार करेगा आदि जिज्ञासाएँ समाधान चाहती है।

पहले प्रश्न का उत्तर अव तक स्पष्ट नही हो सका, अत. पाकिस्तान के समान वह भय की कल्पना से वँध गया है। हमारे पास दर्शन, काव्य और कलाओ का वहुत समृद्ध कोष है, जो किसी मूल्य पर भी छोडा नही जा सकता। छायावादी केवल पलायनवादी है, सूर-तुलसी सामन्त-युग के प्रतीक है, कवीर जैसे रहस्यवादी विक्षिप्त है, कालिदास जैसे कवि राजदरवार के भाट मात्र हैं, वेदकालीन ऋषि प्रकृतिपूजक के अतिरिक्त और कुछ नही, आदि तर्क नये युग के अस्त्र-शस्त्र वन गये है। अवश्य ही आज का सच्चा प्रगतिवादी यह नही कहेगा, पर जव तक वह अपने ज्ञान लव-दुर्विदग्ध समर्थको को इस प्रकार कहने देता है और अपना दृष्टि-विन्दु स्पष्ट रूप से नही उपस्थित करता, तव तक इसका उत्तरदायित्व उसी पर रहेगा। इन सव हीन भावनाओ के पीछे हमारी दीर्घकालीन पराधीनता, शिक्षा की अपूर्णता, जीवन की समष्टिगत विकृति आदि की पटभूमिका है, पर यह अस्वस्थ मानसिक स्थिति यदि साहित्य मे भी परिष्कार न पा सके, तो हम विकास-पथ पर पैर नही रख सकते। हमारा मूल्य घटाकर दिखाने मे जिन विदेशियो का लाभ है, जव वे भी ऐसा करने मे असमर्थ रहे, तव उनके साहित्य सस्कृति से परिचित और अपने से अपरिचित व्यक्ति केवल जन्म से भारतीय होने के नाते ऐसा प्रयत्न करके अपना ही मूल्य खो वैठते हैं।

विविध युगो मे कला और काव्य का जो उत्कृष्ट रूप हमे मिलता है, उससे हमारा विरोध नही हो सकता और न होना चाहिए। विरोध हमारा उस व्यवस्था से रहेगा, जिसने इन मूल्यो को कुछ व्यक्तियो तक सीमित रखा। नवीन व्यवस्था मे हम कुरूप को सुन्दर नही कहेगे, प्रत्युत् सौन्दर्य को सामान्यता देकर सब तक

पहुँचाएँगे। अतः हमारा कार्य-भार दुगना हो जाता है। प्रत्येक युग के सौन्दर्य का मूल्याकन और आज की परिस्थितियो मे उसकी समुचित प्रतिष्ठा करना और उसे नवीन व्यवस्था की प्रेरणा बनाकर नयी दिशा देना सहज नही।

सनातन, चिरन्तन, शाश्वत जैसे शब्दो से नये युग को खीझ है, पर उन्हे ठीक समझे बिना जीवन की मूल प्रेरणा मे विश्वास कठिन होगा। सनातन से अस्तित्व-मात्र का बोध होता है, चिरन्तन उसके बहुत काल से चले आने को सूचित करता है और शाश्वत मे हमे जीवन की मूल चेतना की क्रमबद्धता का सकेत मिलता है।

एक व्यक्तित्व की अवधि है, पर उस अवधि को मनुष्य किसी महान् आदर्श के लिए असमय ही खो सकता है, दूसरो के सुख की खोज मे अनायास गँवा सकता है। इस खोने का महत्त्व तब प्रकट होता है, जब हम जानते है कि व्यक्ति का अस्तित्व न रहने पर भी समष्टि का अस्तित्व है, यह अस्तित्व चिरकाल से विकास पाता आ रहा है और इस अस्तित्व की अन्तश्चेतना आगे भी रहेगी। आज का मनुष्य अपने यथार्थ को, आगामी मनुष्य के कल्पित सुखो को निश्चित करने के लिए छोड सकता है, क्योकि उसे विश्वास है कि जिसके लिए कल्याण खोजने मे वह मिटा जा रहा है, वह मनुष्य कल भी रहेगा, परसो भी रहेगा और भविष्य मे भी रहेगा। अँग्रेजी के 'The King is dead, long live the King' की तरह अपनी इकाई मे मनुष्य मरता है, पर समष्टि की इकाई मे वह अमर है।

कला चिरन्तन है, सौन्दर्य सनातन है, सत्य शाश्वत है आदि मे कोई रूढिगत अन्धविश्वास न होकर मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो की निरन्तरता का सकेत है, क्योकि सभी युगो मे मनुष्य अपने जीवन और उसे घेरनेवाली भूतप्रकृति को व्यवस्थित करता रहा है, उनके सामञ्जस्य पर प्रसन्न होता रहा है और जीवन के विकास के लिए उनके निरपेक्ष मूलतत्त्वो की खोज मे लगा रहा है।

कला और सौन्दर्य, जीवन के परिष्करण और उससे उत्पन्न सामञ्जस्य के पर्याय है। इन दोनो की वाह्य रूपरेखा मनुष्य के विकास की सापेक्ष और परिस्थितियो से सीमित रहेगी, पर जीवन की अन्तश्चेतना मे इन्हे निरपेक्ष व्यापकता के साथ ही स्थिति मिलती है। मनुष्य अपने ज्ञान से अर्जित विकास के द्वारा कला को विविधता और सामञ्जस्य को परिष्कार दे सकता है, पर इनकी ओर आकर्षण जीवन के समान रहस्यमय और पुराना है। अनेक बार कलम करके लगाया हुआ और विकास की दृष्टि से पूर्ण विकसित गुलाब ही सुन्दर नही, शिला के नीचे छिपकर खिला पुष्पशखी भी सुन्दर है। वास्तु-कला के चरम विकास का निदर्शन ताज ही सुन्दर नही, आदिम युग के मनुष्य की गहन कन्दरा मे भी गम्भीर सोन्दर्य मिलेगा। देशविशेष और कालविशेष की कला और सौन्दर्य मे वाह्य विभिन्नता रहेगी, पर उन्हे

जन्म देने वाली प्रवृत्ति मनुष्य-जाति के साथ उत्पन्न हुई है और उसकी समाप्ति के साथ समाप्त होगी। इस प्रवृत्ति को सनातन की सज्ञा देकर हम उसके अस्तित्व को स्वीकार करते है और चिरतन कहकर उसका जीवन की चिरसगिनी होने का अधिकार मानते है।

जीवन को अव्यक्त भाव से विकास देने वाले तत्त्वो को खोजने की प्रवृत्ति भी कभी नही मिटी और यह मूलतत्त्व भिन्न-भिन्न नामो मे भी वैसे ही एकता बनाये रहे, जैसे अनेक सम्बन्धो मे बँधा हुआ सामाजिक व्यक्ति एक ही रहता है। जीवन की समन्वयात्मक व्यवस्था और साहित्य का सामञ्जस्य-मूलक सौन्दर्य बाहर से जीवन के दो भिन्न छोर है, पर उन दोनो का आधार-भूत सत्य, जीवन की वही अन्तश्चेतना है, जो उसे निरन्तर विकास के लिए बाध्य करती है। मनुष्य का जीवन चाहे कल्याण के राजमार्ग मे चला, चाहे दु.ख के वन मे भटका, पर यह अन्तश्चेतना आगे बढने की प्रेरणा से स्पन्दित होती रही, अत उसे शाश्वत कहकर हम मनुष्य की भूलो को शाश्वत नही कहते।

काव्य और कला का मूलाधार यही अन्तश्चेतना है। इसी से वे सब युगो मे समान रूप से सम्मान पाते रहते है।

साहित्य और कला की सार्वभौमिकता प्रमाणित करने के लिए हमे रूस से अधिक उपयुक्त देश नही मिल सकता, क्योकि आज का आलोचक उस पर साम्राज्यवादी देशो की विलासप्रियता का आरोप नही करेगा, अध्यात्मप्रधान जाति के अन्धविश्वास का लाछन नही लगायेगा और तानाशाही परवशता का आक्षेप अनुचित मानेगा। पर वहाँ आज युद्ध के धुएँ से भरे आकाश के नीचे, अस्त्र-शस्त्रो की झनकार से मुखरित दिशाओ के बीच मे, साम्राज्यवादी देश के शेक्सपियर के नाटक खेले जाते है, अध्यात्मवादी भारत के रामायण महाभारत जैसे ग्रन्थो के अनुवाद होते है, रहस्यद्रष्टा कवीन्द्र की रचनाएँ पढी जाती है, नाजियो के वैगनर को कलाकारो मे स्थान दिया जाता है और गोर्की के समान ही टॉल्सटॉय को महत्त्व दिया जाता है। वहाँ का श्रमजीवी अन्य स्वाधीन देशो के भिन्न विचार-धारावाले साहित्य को ही महत्त्व नही देता, भारत जैसे अध्यात्मवादी देश की उन उपेक्षित निधियो का भी ऊँचा मूल्य आँकता है, जो नवीनता के उपासको के सामने घिसी-पिटी सस्कृति और पुराणपन्थी साहित्य के रूप मे उपस्थित होती है। इस विरोधाभास मे एक ओर एक जीवित जाति और विकासशील राष्ट्र की निष्पक्ष उदारता का स्वर है और दूसरी ओर एक गतिरुद्ध जाति की दास-प्रवृत्ति बोलती है।

दुर्बलता शक्ति का आहार है, पर हमारी दुर्बलता जब शक्ति को खा-खाकर जीने लगी, तब दुर्बलता का चिर जीवन निश्चित है और शक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी।

इस मनोवृत्ति को आश्रय देकर नवीनता का उपासक एक नये अभिशाप की सृष्टि करेगा।

जीवन उस वृक्ष के समान है, जो कही जड मे अव्यक्त है, कही पत्तो मे लहलहाता है, कही फूलो मे सुन्दर है, कही फल मे उपयोगी है और कही बीज मे सृजनशील है। कला और साहित्य मे जीवन के रहस्य, सजीवता, सौन्दर्य, उपयोग और सृजनशक्ति का एकीकरण रहता है, अत उसका स्रष्टा साम्य का अन्वेपक है, भेद-विरोध का आविष्कारक नही। एक ही भाव या विचारधारा का प्रावान्य साहित्य और कला का लक्ष्य नही, पर भाव और विचार की असख्य विविधताएँ चरम बिन्दु पर पहुँचकर वैसे ही एक हो जाती है जैसे मनुष्य के स्वप्न, कल्पना, इच्छा, तर्क, विश्वास आदि की अनेकता उनके विकास मे एकता पा लेती है।

दार्शनिको, विचारको और साधको के समान ससार भर के कलाकारो की भी एक जाति और एक ही वर्ग है। जीवन के निम्नतम स्तर से आनेवाला कलाकार अपनी परिस्थिति से ऊपर उठकर और उच्चतम से आनेवाला अपनी परिस्थिति से नीचे उतरकर जीवन के उस धरातल पर ठहरता है, जिसमे ऊँचाई-नीचाई की विषमता न होकर सामञ्जस्यमयी विविधता मात्र सम्भव है। कला के पारस का स्पर्श पा लेनेवाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नही, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नही, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नही, भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नही और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नही। इसी से मानसकार के ब्राह्मणत्व, पाण्डित्य और आदर्शवाद को जिस धरातल पर स्थिति मिली है, कबीर का अशिक्षित जुलाहापन और अटपटे रहस्यभाव भी उसी पर प्रतिष्ठित किये गये है।

नवीन विचारधारा को अपना पथ परिष्कृत करने के लिए साहित्य और कला की अन्तर्वर्तिनी एकता को तत्त्वत समझने की आवश्यकता रहेगी।

स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन की विषमताओ से सम्बन्ध रखनेवाले यथार्थ की समस्या भी अब तक सुलझी नही। हाँ, उसने श्लीलता-अश्लीलता-सम्बन्धी अनेक विवादो को जन्म अवश्य दे दिया है। व्यापक अर्थ मे यह भाव जीवन के प्रति सम्मान और असम्मान के पर्याय हो सकते है। जिस भाव, विचार, सकल्प, सकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नही प्रकट होती, वे सब अश्लील की परिधि मे रक्खे जा सकेगे। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है, वह अश्लील नही कहा जाता। पर यदि राह मे कोई उसी रोगी की पगडी उतारकर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने मे लज्जा नही आयी, तब यहाँ सिर उघड़ जाने मे क्या हानि है, तो इस कार्य को श्लील नही कहा जा सकेगा।

चिकित्सक रोगो का ज्ञान रखता है और रोगी को स्वस्थ करने की इच्छा से रोग-निदान के लिए प्रेरित होता है, अत उसके व्यवहार मे जीवन के महत्त्व की स्वीकृति है, पर दूसरा अपने मनोविनोद के लिए अन्य व्यक्ति को उपहासास्पद बनाना चाहता है, फलत उसके कार्य मे जीवन के महत्त्व की अस्वीकृति है।

जीवन के महत्त्व की स्वीकृति और अस्वीकृति के भावो के बीच मे विभाजक रेखा सूक्ष्म है। इसी से मूलभाव को ध्यान मे रखते हुए एक व्यवहार-परम्परा बना ली गयी। जैसे-जैसे मनोभावो मे सूक्ष्म परिष्कार आता जाता है वैसे-वैसे मानवीय सम्बन्धो मे सस्कार होता चलता है, जैसे-जैसे समाज का विस्तार बढता जाता है वैसे-वैसे व्यवहार-क्रम विविधता मे फैलता जाता है। पुरुष और स्त्री की पाशविक सहज प्रवृत्ति वैयक्तिक प्रेम मे परिष्कृत होकर सास्कृतिक विकास का आधार बन सकी और सस्कृति से व्यवहार-जगत् शासित हो सका। युग-विशेष के नैतिक नियम, तत्कालीन समाज, उसके पीछे छिपे मानवीय सम्बन्ध और उस सम्बन्ध के मूलगत मानव-प्रकृति के परिष्कार का परिचय देगे। पर सारी विविधता के भीतर जीवन के महत्त्व की स्वीकृति या अस्वीकृति किसी न किसी मात्रा मे अवश्य मिलेगी, क्योकि जीवन जिस परिष्कार-क्रम तक पहुँचा होगा, तत्सम्बन्धी महत्त्व की भावना भी उसी सीमा तक विकास कर चुकी होगी और अवज्ञा उसी सीमा तक दण्डनीय मानी जाती होगी।

यथार्थवाद के सम्बन्ध मे अश्लीलता का जो प्रश्न उठाया जाता है, वह रहस्यवाद और आदर्शवाद के सम्बन्ध मे नही उठता, क्योकि उनमे पहला, प्रवृत्तियो का उदात्तीकरण होने के कारण जीवन के महत्त्व को घटा नही सकता और दूसरा जीवन की पूर्णता की कल्पना के कारण उसे निम्न स्तर पर रखने को स्वतन्त्र नही। रहस्यवादी स्वय नारी के आत्मसमर्पण का सहारा लेकर परमतत्त्व मे अपने आपको खो देना चाहता है, अत उसमे पुरुष और नारी का रूप चरम परिष्कार पा लेता है। आदर्शवादी जीवन को पूर्णतम रूप मे उपस्थित करने का लक्ष्य रखता है, अत उसमे मानव, मानवी तथा मानवीय सम्बन्ध परम उज्ज्वल हो उठते है।

यथार्थवाद जीवन का इतिवृत्त होने के कारण प्रकृति और विकृति दोनो के चित्र देने के लिए स्वतन्त्र है, पर जीवन मे विकृति अधिक प्रसारगामिनी है, परिणामत यथार्थ की रेखाओ मे वही बार-बार व्यक्त होती रहती है। सच्चा यथार्थवादी प्रकृति के चित्रण मे, जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियो को प्रगति देता है और विकृति की रेखाओ मे उसका लक्ष्य, विरोध द्वारा प्रकृति की पुनर्स्थापना रहता है।

गोताखोर तट पर कीचड और घोघो का ढेर लगाने के लिए समुद्र की अतल गहराई मे नही धँसता, पृथ्वी पर मिट्टी के नये पहाड बनाने के लिए खानक खान नही खोदता। एक उस मोती को निकाल लाता है, जिससे ससार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओ से भरे समुद्र को रत्नाकर का नाम देता है, दूसरा पृथ्वी के अन्धकारमय गर्त्त से वह हीरा खोज लाता है, जिसका अस्तित्व अब तक छिपा था और जिसे देकर धरती वसुन्धरा की सज्ञा पाती है।

विकृत यथार्थ का अन्वेपक प्रकृति के किसी अमूल्य सत्य की प्राप्ति के लिए विकृति को स्वीकृति देता है---केवल उसकी विषमता और कुत्सा का एकत्रीकरण उसका लक्ष्य नही रहता। भारत के सम्बन्ध मे विविध गर्हित विकृतियो का सग्रह करनेवाली मिस मेयो कलाकारो की पक्ति मे न खडी हो सकेगी, लन्दन के विविध और विकृत रहस्यो का पता लगाने वाला रेनाल्ड ससार के श्रेष्ठ साहित्यकारो मे स्थान न पा सकेगा।

विकृति दो प्रकार से चित्रित की जा सकती है---एक तो ऐसी तटस्थता के साथ, जो लेखक के भाव के स्पर्श के बिना ही हिप्नोटिज्म से अचेत व्यक्ति के समान स्वय सब कुछ कह दे और दूसरे प्रकृति की व्यापक छाया के नीचे, जिससे वह अपनी सामञ्जस्य-विरोधिनी स्थिति प्रकट करके प्रकृति की ओर प्रेरित करे।

जब यथार्थवादी प्रकृति की सामञ्जस्यमयी छाया से बाहर अपनी रसमग्नता के साथ विकृति को चित्रित करता है, तब उसकी लिप्सा ही व्यक्त होती है और यही लिप्सा पाठक के हृदय मे प्रतिबिम्बित हो उठती है।

इस सम्बन्ध मे यह जानना उचित है कि विकृति के ज्ञान और विकृति की अनुभूति मे विशेष अन्तर रहता है, क्योकि ज्ञान परोक्ष हो सकता है, पर अनुभूति नही होती। हमे हत्या का ज्ञान हो, तो वह ज्ञान हमारे मानसिक जगत् पर गहरी छाप नही छोडेगा, पर हत्या की अनुभूति होने पर हम हत्याकारी की मानसिक स्थिति मे जीवित होगे, अत इसका सस्कार बहुत स्थायी रहेगा।

हत्या जीवन की एक अस्वाभाविक और विकृत स्थिति का परिणाम है। वास्तविक जीवन मे जब हम उसे बिना किसी माध्यम के नग्न रूप मे प्रत्यक्ष पाते है, तब हमारे हृदय मे उसके प्रति जुगुप्सा और परिस्थितियो के अनुसार हत्याकारी के प्रति घृणा, क्रोध या करुणा का भाव जाग उठता है। यही भाव तब जागेंगे, जब यथार्थवादी कलाकार उसे तटस्थ रूप से उपस्थित करेगा। यदि वह इस विकृति को जीवन के प्रकृत सामञ्जस्य की छाया मे अकित करे, तो इसकी पट-भूमिका मे हमे जीवन के स्वस्थ रूप का सकेत भी मिलेगा। पर जब कलाकार एक अस्वस्थ

रस-निमग्नता के साथ हत्या का चित्रण करता है, तब हमारे मन मे न स्वाभाविक घृणा जागती है, न जीवन की सहज संवेदनीयता से उत्पन्न सहानुभूति जगती। हम उस चित्रण मे एक ऐसी अस्वस्थ उत्तेजना का अनुभव करते है, जिसके कारण हमे ऐसे ही चित्रो की खोज मे भटकना पड़ता है। अन्य विकृतियो के चित्रण के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है।

पुरुष और नारी के सम्बन्ध की विषमता के द्वारा यथार्थ इससे अधिक उत्तेजनामूलक हो सकता है, क्योकि हत्या सामान्य प्रवृत्ति न होकर वैयक्तिक विकृति है, पर वासना सहज प्रवृत्ति ही कही जायगी। यथार्थ का यह आधार यदि साधक नही, तो तटस्थ निर्विकारता उसका अमोघ अस्त्र है। जिसके पास तटस्थता नही, वह यथार्थ का चितेरा अपनी ही अस्वस्थ इच्छाओ की पूर्ति के लिए विकृत चित्रो की असख्य आवृत्तियाँ करता रहेगा और उन चित्रो का दर्शक अपनी सहज प्रवृत्ति को अनायास अस्वाभाविक उत्तेजना मे बदलते-बदलते उन्ही विकृतियो का उपासक हो उठेगा। उत्तेजक यथार्थ का चितेरा और उन चित्रो का दर्शक दोनो उन विकृत चित्रो के अभाव मे उसी अशक्ति का अनुभव करेगे, जो ज्वर उतर जाने पर रोगी और होश मे आ जाने पर मद्यप मे स्वाभाविक है।

इस यथार्थ के मूल मे कही तो हमारे समाज की समष्टिगत विकृति है और कही यूरोप के पतनशील साहित्य मे मिलनेवाले वे फ्रायडियन सिद्धान्त है, जिनके सम्बन्ध मे भौतिकवादी क्रान्तिद्रष्टा का कथन है—

'It seems to me that these Flourishing sexual theories which are mainly hypothetical and often quite arbitrary hypotheses, arise from the personal need to justify personal abnormality or hypertrophy in sexual life before bourgeois morality and to entreat its patience.'—Lenin

( मुझे तो जान पडता है कि स्त्री-पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाले यह प्रचलित सिद्धान्त विशेषत कल्पित और प्राय निरकुश अनुमान मात्र है। वे व्यक्तिगत जीवन की वासना-जनित उच्छृखलता और अस्वाभाविकता को, मध्यवर्गीय नैतिकता के निकट क्षम्य बनाने और उसकी सहिष्णुता अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता से उत्पन्न हुए है। )

इस दृष्टि से हमारी स्वभावगत विकृति से अधिक हानिकारक फ्रायडियन प्रवृत्ति है, क्योकि वह व्यक्ति की विकृति को सरक्षण ही नही देती, वरन् उसे सामान्य बनाने के लिए एक कल्पित सिद्धान्तवाद भी देती है।

समाज मे स्त्री-पुरुष का परस्पर आचरण चरित्र का प्रधान अग है और इस

चरित्र के मूल में उनकी वह जातिगत चेतना रहती है, जिसके स्वस्थ रहने पर ही चरित्र का स्वास्थ्य निर्भर है। यदि इस चेतना को, स्वस्थ और सन्तुलित विकास के उपयुक्त वातावरण न देकर चरित्र-सम्बन्धी विकृतियों से घेर दिया जाता है, तो यह जातिगत चेतना विकृत और अस्वाभाविक होने लगती है और परिणामत चारित्रिक विकृतियो का क्रम निरन्तरता पाता रहता है।

सभी युगो के पतनशील समाज मे चरित्र सम्बन्धी विकृतियाँ सीमातीत हो जाती है और उनके सुधार के नाम पर प्रचलित विज्ञापनो का परिणाम चक्रवृद्धि की तरह एक-एक विकति को अनेक बनाता रहता है। इन विकृतियो को कला और साहित्य मे विशेष रसमय बनानेवाले व्यक्ति या तो व्यक्तिगत विकृतियो से पीडित रहते है या दूसरो की दुर्बलता का दुरुपयोग करके अपना स्वार्थ-साधन चाहते है।

भौतिकताप्रधान सोवियत शासन-व्यवस्था ने पुरुष और नारी की जातीय चेतना को स्वस्थ विकास देने के लिए ही ऐसे चारित्रिक अपराधो का विज्ञापन रोक दिया है। नियम का कारण हमे इन शब्दो मे मिलता है—

'The secret trial of sexual cases is based on the psychological principle that publicity for such cases is liable to arouse a morbid concentration on such questions, in the public mind with anti social effects on behaviour ?'

(स्त्री-पुरुष के चरित्र-सम्बन्धी अभियोगो का निर्णय गुप्तरूप से होता है। इसका कारण वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार इस प्रकार का विज्ञापन जनता के आचरण पर समाज-विरोधी प्रभाव डालता हुआ उसके ध्यान को ऐसे प्रश्नो मे अस्वाभाविक रूप से केन्द्रित कर देता है।)

जीवन के नूतन निर्माण के समय ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति चिन्ताजनक है, इसे अध्यात्मवादी भारतीय साधक ही नही, क्रान्ति का अनीश्वरवादी सूत्रधार और नवीन रूस का निर्माता लेनिन भी मानता है—

'Youth movement too is attacked with the disease of modernity in its attitude towards sex questions and in being exaggeratedly concerned with them The present widespread hypertrophy in sexual matters does not give joy and force to life but it takes it away. In the age of revolution it is bad, very bad The revolution demands concentration, increase of forces from the masses, from individuals. Self control, self

discipline is not slavery.. I am deeply concerned about the future of our youth. And if harmful tendencies are appearing in the world of revolution it is better to combat them early. Such questions are the part of women question.'

( युवक-आन्दोलन भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रश्नो के प्रति अपने दृष्टिकोण मे और उन्हे अपने ध्यान का एकान्त केन्द्र बना लेने मे आधुनिकता की व्याधि से पीडित है। असयम से स्फीतकाय वासना का वर्तमान प्रसार जीवन को शक्ति और आनन्द नही देता, किन्तु छीन लेता है। क्रान्ति के युग मे यह बुरा है, बहुत बुरा। क्रान्ति, शक्तियो की वृद्धि और उनका केन्द्रीकरण चाहती है— जन-समूह से भी, व्यक्ति से भी। आत्म-निग्रह और आत्मसयम दासता नही है . . . . मैं नई पीढी के भविष्य के लिए विशेष चिन्तित हूँ। यह क्रान्ति का अग है और यदि क्रान्ति के ससार मे हानिकारक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है, तो आरम्भ ही मे उनकी रोक-थाम होना अच्छा है। ऐसे प्रश्न नारी की समस्या के अग है।)

लेनिन की दृष्टि मे नारी के सहयोग का व्यावहारिक उपयोग ही नही, वरन् वह 'a continuation, extension and exaltation of motherliness from individual to social sphere' (मातृ-भावना का, व्यक्ति की सीमा से सामाजिक क्षेत्र मे निरन्तर प्रसार, विस्तार और उदात्तीकरण) है।

सास्कृतिक मूल्य और नारी के महत्त्व की दृष्टि से सभी जाग्रत और विकासशील देश एक ही पथ के यात्री है, अत उनके काव्य, कला आदि, बाह्य विभिन्नता के साथ भी लक्ष्यत एक है। पर यदि हमारा नूतन भौतिकतावादी रूस को ही प्रमाण माने, तो भी उसे अपने दृष्टि-विन्दु मे आमूल परिवर्तन करना होगा, क्योकि आज की हीन भावना और वासना-व्यवसाय को न रूस के व्यवहार-जगत् मे समर्थन मिलेगा, न उसके काव्य-साहित्य की समष्टि मे।

विकृत यथार्थवाद का विकास-विरोधी रूप तो प्रत्यक्ष ही है पर जागती हुई नारी के मनोविज्ञान पर इसका जो प्रभाव पडेगा और उसका विरोध जिस रूप मे उपस्थित होगा, इसका अनुमान भी कठिन नही।

हमारी दीर्घकालीन पराधीनता मे भी नारी ने अपने स्वभावगत गुण कम खोये है, क्योकि सघर्ष मे सामने रहने के कारण पुरुष के लिए जितना आत्महनन और विवश समझौता अनिवार्य हो जाता है, उतना नारी के लिए स्वाभाविक नही। पर दुर्बल पराजित पुरुष को अपने स्वत्व-प्रदर्शन के लिए नारी के रूप मे एक ऐसा जीव मिल गया जिस पर वह, विपक्षी से मिली पराजय की झुँझलाहट भी उतार

सकता है और अपने स्वामित्व की साध भी पूरी कर सकता है। ऐसी स्थिति मे भारतीय नारी के लिए, पुरुष के निराश हृदय का विलास और निष्क्रिय जीवन का दम्भ दोनो का भार वहन करना स्वाभाविक हो गया, क्योकि एक ने उसे कम मूल्य पर खरीदा और दूसरे ने उसके लिए ऊँचा से ऊँचा आदर्श स्थापित किया।

एक ही व्यक्ति इन दो भिन्न छोरो को कैसे स्पर्श कर सकता था! पर परिस्थितियो से विवश नारी, एक ओर पुरुष की क्रीडा का विषय बने रहने के लिए अपने आपको भडकीले रगो मे रगकर अस्वाभाविक चञ्चलता मे जीने लगी और दूसरी ओर पुरुष के निश्चित आदर्श तक पहुँचकर दिव्य बनने के लिए अपने अणु-अणु में स्फटिक की स्वच्छ निर्जीवता भरने लगी। पुरुष यदि नारी के चरित्र को महत्त्व देता, तो उसे जीवन के कुत्सित व्यवसाय के लिए विवश न होना पडता और यदि वह उसे कोई मूल्य न देता, तो उसे अलौकिक बनने के लिए अनिवार्य अग्नि-परीक्षाओ से मुक्ति मिल जाती। पर उसकी दोनो माँगे निश्चित और श्लेषहीन रही।

इसी से हमारे समाज मे एक ओर जगमगाती हाट लगाकर बैठी हुई स्वच्छन्द नारी का अट्टहास कहता रहता है, 'तुम जीवन का अन्तिम क्षण तक मिट्टी के मोल ले लो' और दूसरी ओर ऊँची दीवारो के अन्धकार मे छिपी और साधना मे घुलती हुई बन्दिनी के नि श्वास पूछते रहते है, 'अब और कितने क्षण शेष है?'

हमारे काव्य, साहित्य और कलाएँ इन दोनो ही रूपो के चलचित्र है। एक ओर उच्छृखल सौन्दर्य, दूसरी ओर नि स्पन्द साधना। आधुनिक यथार्थवादी ने भी नारी के जीवन का महत्त्व और उसकी व्यथा को देखने का प्रयत्न न करके उन्ही प्रवृत्तियो को नये नाम दे दिये है, परिणामत नारी के जीवन को उनसे कोई गति नही मिल सकी।

छाया-युग की छाया से आया हुआ यथार्थवादी सौन्दर्य का ऐसा सस्कार लेकर आया, जो अपना व्यापक चित्राधार छोडकर रीतियुग की सौन्दर्यदृष्टि से भिन्न नही रह सका।

गजगति से चलने वाली 'धनि श्यामवरणि' सस्कृत की 'तन्वी श्यामा' की वशजाता भी है और रीतिकालीन नायिकाओ का आधुनिक सस्करण भी। वह मनुष्य है, पर उसकी मनुष्यता का कोई भी मूल्य नही, उसे बुद्धि का वरदान प्राप्त है, पर उसका किसी के भी निकट उपयोग नही, उसके पास अमूल्य हृदय है, पर उसके वात्सल्य, सहानुभूति जैसे भावो के लिए भी कही अवकाश नही, आदि प्रश्न सिद्धान्तवाद के भीतर उठ सकते है। पर भावभूमि पर कवि की दृष्टि उसके बाह्य सौन्दर्य मे ही केन्द्रित रहती है। यदि उसे विषाद होता है, तो यह विचार कर कि दरिद्रता इस सौन्दर्य को असमय मलिन और जर्जरित कर देगी।

यदि किसी प्रकार दरिद्रता का अभिशाप दूर किया जाय, तो यह मानवी मेडो पर कटि लचकाती हुई घूमने के अतिरिक्त और किस दशा मे उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी शका ही दर्शक के हृदय मे नही उठती। उठे भी क्यो ? क्या सौन्दर्य को सुरक्षित रखना, अपने भीतर, देखनेवाले के नित्य अनुरञ्जन का लक्ष्य नही छिपाये हुए है ?

कहने की आवश्यकता नही कि ऐसी सौन्दर्य-दृष्टि ने ग्रामीण नारी के जीवन का महत्त्व न प्रकट कर नागरिक सौन्दर्य-पिपासा के लिए एक नया निर्झर खोज निकाला है।

छायायुग के सूक्ष्म सौन्दर्य मे जिन्हे उत्तेजक स्थूल को खोजने का अवकाश नही मिल सका, वे यथार्थ के सम्बन्ध मे सौन्दर्य-दृष्टि नही रखते। प्रत्युत जीवन के ऐसे विकृत चित्र उनका लक्ष्य रहते है, जो उनकी अस्वस्थ प्रवृत्तियो को उत्तेजित रख सके। इन नग्न वासना-चित्रो को वे ऐसे अस्वस्थ उन्माद के साथ आँकते है कि करुणा, समवेदना जैसे गम्भीर भावो के लिए कोई स्थान ही नही रहता। जिन विकृतियो मे नारी के अपमान का व्यौरा है, उनमे तटस्थता और व्यापक सामञ्जस्य-भावना के अभाव मे नारी के जीवन का कोई महत्त्व प्रकट नही हो पाता और इस प्रकार वे चित्र अश्लील हो जाते है। केवल अपमान के व्योरे जब विशेप रसमग्नता के साथ दिये जाते है, तब वे अपमान ही क्रूरता व्यक्त करने मे भी असमर्थ रहते है और अपमान सहने वाले का महत्त्व स्थापित करने की शक्ति भी खो देते है।

यदि कोई विशेष रस ले-लेकर कहे कि अमुक व्यक्ति को एक ने गाली दी, दूसरे ने पीटा, तीसरे ने गर्दन पकडकर निकाल दिया, तो यह अपमान-शृखला, अपमान-योग्य व्यक्ति के उचित दण्ड का लेखा-जोखा बनकर उपस्थित होगी। व्यक्ति की निर्दोपिता या विशेष महत्त्व के ज्ञान से उत्पन्न व्यथा या सामान्य मानवता प्रकट करने वाली तटस्थता के अभाव मे, ऐसे ब्यौरे, न अपमानित व्यक्ति का सामाजिक महत्त्व प्रकट कर सकते है, न उसकी व्यक्तिगत विशेषता का पता दे सकते है।

ये विकृतियो के अथक अन्वेषक, निर्धारित मूल्यो के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही है, अत नूतन निर्माण के लिए आवश्यक क्रातिकारी भी है, यह धारणा भ्रात है। प्रत्येक जीवन-व्यवसायिनी नारी, प्रत्येक मद्यप, प्रत्येक दुश्चरित्र आदि निश्चित मूल्यो के विरोधी और समाज की दृष्टि से विद्रोही है। पर यह सब क्रान्तिकारी नही कहे जा सकेगे, क्योकि इनका लक्ष्य आत्महत्या है, नव निर्माण नही। क्राति स्वय एक साधना है, अत उसका साधक जीवन को नये

मूल्य और समाज को नया रूप देने के लिए अपने आपको अधिक से अधिक पूर्ण, स्वस्थ और सशक्त बनाने का प्रयत्न करता है, नष्ट करने का नही।

यदि कहा जाय कि हमारे सामाजिक जीवन के कठोर सयम ने सामूहिक रूप से एक अस्वस्थ मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी है, तो इस कथन मे सत्य का अश सन्दिग्ध है। यदि यह मान लिया जाय कि ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थितिवाले लेखक लिखते-लिखते प्रगतिशीलता तक जा पहुँचेगे, तो यह अनुमान प्रमाणहीन है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था मे पुरुष सयम के अभाव से पीडित है, सयम से नही, अत असयम से उनका उपचार करना वैसा ही है, जैसे अत्यधिक भोजन से उत्पन्न उदरशूल मे रोगी को मिष्ठान्न खिलाकर स्वस्थ करने का प्रयास।

ऐसी स्थिति मे यथार्थ-चित्रो मे सस्कार की आवश्यकता है, विकार की नही, अन्यथा वे विकृतियो मे ध्यान को एकान्त रूप से केन्द्रित कर देगे। अस्वस्थ साहित्य का सृजन करते-करते ही यथार्थवादी प्रगति के चरमलक्ष्य तक पहुँच जायेंगे, इसे मान लेना यह विश्वास कर लेना है कि एक की ओर चलनेवाला चलते-चलते दूसरी ओर पहुँच जायगा। हमारा सामाजिक स्वास्थ्य नष्ट हो गया है, पर नवीन निर्माण के लिए तो स्वस्थ प्रवृत्तियाँ, सस्कृत हृदय और परिष्कृत बुद्धि चाहिए। जो विकृतियो से प्रभावित है, पर आत्म-सस्कार के प्रश्न को भविष्य के लिए उठा रखते है, वे पथ-प्रदर्शन के लिए उपयुक्त न हो सकेगे।

हमारे साथ विकलाग भी हो सकते है और व्याधिग्रस्त भी, पर निर्माण के लिए हमे पूर्णाग और सबल व्यक्ति चाहिए। जब निर्माण हो चुके, तब हम विकलागो और पीडितो को सरक्षण भी दे सकते है और उन्हे स्वस्थ बनाने के साधन भी एकत्र कर सकते है। किन्तु कुछ बनाने का कार्य आरम्भ करने के पहले यदि हम उन्हे अपने आगे खडा कर लेते है, तो अपनी असमर्थता के विज्ञापन के अतिरिक्त कुछ नही करेगे।

लेखक का ध्यान यदि विकृतियो मे केन्द्रित हो गया, तो इसका कारण उसकी मानसिक अस्वस्थता है, जिसे वह सिद्धान्तवाद मे छिपाना चाहता है। पत्र यदि उत्तेजना-वर्धक रचनाओ को प्रश्रय देते है, तो इसके पीछे उनका व्यावसायिक लाभ है, जिसकी रक्षा के लिए वे सिद्धान्तवाद को ढाल बना लेते है।

पर इन दोनो की अपेक्षा सख्या मे अधिक और लाभ की दृष्टि से तटस्थ एक तीसरा भी पक्ष है, जिसे इस सिद्धान्तवाद के आवरण मे आनेवाले कला, साहित्य आदि को जीवन की कसौटी पर परखना होगा। शुद्ध उपयोगितावाद की दृष्टि से भी नारी श्रमिकवर्ग के समान ही दलित, पीड़ित पर महत्त्वपूर्ण है। उसमे समष्टिगत चेतना का अभाव-सा है, पर व्यष्टिगत चेतना की दृष्टि से भी नारी ने

इस प्रवृत्ति मे अपमान का ही अनुभव किया है। उत्तर मे आज का यथार्थवादी यह कहकर छुट्टी नही पा लेगा कि तुम्हे अपने सम्बन्ध मे कुछ ज्ञान नही, हम तुम्हे जो देते है, उसी मे तुम्हारा परम कल्याण है, हमारा इसमे कोई सकीर्ण स्वार्थ नही। ये तर्क हमारे गौराग प्रभुओ के परिचित तर्क है, जिनके द्वारा वे अपने स्वार्थ को परार्थ का नाम देकर हम पर लाद देते है। आज की नारी इस प्रकार कहनेवाले को घोर प्रतारक मानेगी।

नवीन यथार्थवादी कलाकार किस सीमा तक निम्नवर्ग से सम्पर्क रक्खे और उसके जीवन को कैसी काव्य-स्थिति दे, यह भी समस्या है।

इस सम्बन्ध मे हमारी दो भ्रात धारणाएँ बन चुकी है। एक यह कि श्रमजीवी वर्ग के जीवन के भीतर प्रवेश करते ही, हमारी रचनाएँ प्रतिक्रियात्मक होने लगेगी और दूसरी यह कि मजदूर, कृपक आदि के विकृत चित्रो के अभाव मे काव्य और साहित्य मे प्रगतिशीलता की गन्ध भी नही रह जायगी।

इन भ्रातियो के कारण न तो निम्नवर्ग के सरल जीवन का महत्त्व प्रकट हो पाया और न मध्यवर्ग की सास्कृतिक चेतना उनके जीवन तक पहुँच सकी।

हमारे कलाकार, साहित्यकार, उनका मूल्याकन करनेवाले आलोचक, शिक्षक और शिक्षको से सस्कार पानेवाले विद्यार्थी सभी मध्यवर्गीय है। इस दृष्टि से निर्माण के क्षेत्र मे यह वर्ग बहुत साधन-सम्पन्न कहा जायगा।

पर उच्चवर्ग की निश्चिन्तता और निम्न वर्ग की सघर्प मे ठहरने की शक्ति के अभाव मे, यह थोडी-सी सुविधा के लिए भी बहुत विषम समझौते करता रहता है।

हमारे जीवन की व्यवस्था उस मशीन की तरह है, जिसमे बडे से लेकर छोटा पुर्जा तक मशीन चलाने के ही काम आता है। इस मशीन मे मध्यवर्गीय कील-काँटो का ही बाहुल्य है, जो अपना स्थान छोडना नही चाहते, अत. मशीन को चलाते ही रहते है। जब तक यह अपने वातावरण से बाहर आकर ससार को देखने के लिए स्वतन्त्र नही, तब तक अपने स्थान मे जकड़े रहने के कारण अपने आपको देखने के लिए भी स्वतन्त्र नही।

उदाहरण के लिए हम अपने विद्यार्थी और शिक्षकवर्ग को ले सकते है, जो दूसरो से अधिक सस्कृत और स्वतन्त्र जान पड़ते है।

विद्यार्थी नितान्त अस्वाभाविक विदेशीय वातावरण से बहुत हल्के पर विविध सस्कार ग्रहण करता रहता है। उसकी असम्भव कल्पनाएँ, ऊँचे-ऊँचे सकल्प, विविधता-भरे विचार आदि देखकर विश्वास होने लगता है कि वह नवयुग का सन्देशवाहक क्रान्तिकारी है।

पर छोटी से छोटी नौकरीरूपी अपवर्ग का आभास मिलते ही वह वेशभूषा से लेकर सिद्धान्त तक इस तरह उतार फेकता है, जैसे उनमे असाध्य रोग के कीटाणु भर गये हो। जिन्हे ऐसा अपवर्ग नही मिलता, वे या तो निराशा और कटुता से चारो ओर के वातावरण को विषाक्त करके नरक की सृष्टि करते रहते है या ऑख मूंदकर उच्छृखल विकृतियो के चलचित्रो का काल्पनिक स्वर्ग रचते है।

आज जव जीवन का प्रत्येक क्षण शक्ति की परीक्षा चाहता है, प्रत्येक दिन निर्माण के इतिहास मे नया पृष्ठ जोड जाता है, तब भी उनके पास कोई लक्ष्य नही, जिसे केन्द्र वनाकर उनकी कल्पना, स्वप्न, सकल्प आदि स्वस्थ विकास पा सके। उनके निकट, लेने योग्य केवल दासता है और देने के लिए विकृति मात्र। यह सत्य है कि जीवन की वर्तमान व्यवस्था उन्हे सुख-सुविधा के साधन नही देती, पर दलितो और पीडितो के कन्धे से कन्धा मिलाकर खडे होने से कौन रोकता है ! पर न वे अपने जीने का महत्त्व जानते है, न मृत्यु की पीडा पहचानते है।

कला और साहित्य को वे अपने मरु जैसे जीवन मे निरुद्देश्य भ्रमण का सगी वनाकर रखना चाहते है। इस प्रकार कलाकार और साहित्यकार की स्थिति उस अभिनेता के समान हो जाती है, जो कुछ और बनने के लिए अपना व्यक्तित्व रखता है और अपने अस्तित्व को वनाये रखने के लिए दूसरो की भूमिका को अपने व्यक्तित्व से अधिक महत्त्व देता है।

जिस प्रकार चरम सफलता तक पहुँचकर अभिनेता अपने परिचय को और चरम निष्फलता मे जीविका के साधन को खो देता है, उसी प्रकार आज के कलाकार के एक ओर, अपने आपको खोना और दूसरी ओर जीवन के साधन खो देने का प्रश्न रहता है।

बुद्धिजीवियो मे सवसे श्रेष्ठ शिक्षकवर्ग की अपनी अलग ही वर्णव्यवस्था है, जिसका आधार विद्या-व्यवसाय न होकर धन का लाभ रहता है। जीवन की आवश्यक सुविधाएँ भी न पा सकनेवाला स्वभाषापण्डित अछूत की कोटि मे रक्खा जा सकता है और आवश्यकता से अधिक सुविधा-सम्पन्न विश्वविद्यालय का पर-भाषा-प्रोफेसर ब्रह्मतेज से युक्त ब्राह्मण का स्मरण दिलाता है। इन दोनो विषम वर्णो के वीच मे एक ढुलमुल स्थिति रखनेवाले शिक्षक कभी एक की अवज्ञा, कभी दूसरे से ईर्ष्या का व्यवसाय करके अथवा वेतन-वृद्धि के सघर्ष मे विजयी या पराजित होकर जीते रहते है। ये विद्या-व्यवसायी या तो इतने निश्चिन्त है या इतने सघर्षलीन कि उन्हे अपने कर्त्तव्य की गुरुता पर विचारकर अपनी स्थिति से विद्रोह करने का अवकाश नही मिलता। परिणाम प्रत्यक्ष है।

जैसे हर टकसाल मे एक प्रकार के सिक्के ढलते रहते है, उसी प्रकार हमारे शिक्षा-गृहों से एक ही प्रकार के लक्ष्यहीन, हताश पर कल्पनाजीवी विद्यार्थी निकलते रहते है। अवश्य ही इसका उत्तरदायित्व सम्पूर्ण व्यवस्था पर रहेगा, पर आज अन्य क्षेत्रो से अधिक तटस्थ और सम्मानित क्षेत्र मे कार्य करनेवाले यदि अपनी व्यावसायिक बुद्धि और सकीर्ण दृष्टिकोण को वदल सकते, तो एक नयी पीढी के भविष्य की रेखाएँ स्पष्ट और उज्ज्वल हो उठती।

हमारे शिक्षक-वर्ग को राजनीति से शासको ने मुक्ति दे दी है और सामाजिक समस्या से उसने स्वय मुक्ति ले ली है, अत. अपनी सीमा के भीतर ही वह सव कुछ पा लेता है। और इस काल्पनिक सतोप को वनाये रखने के लिए वह वाहर की किसी समस्या को अपने सीमित ससार मे घुसने ही नही देता।

इसी कारण हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और सास्कृतिक पुनर्जागरण के विस्तार मे उसका विशेप महत्त्वपूर्ण सहयोग नही।

साहित्य, कला आदि की दृष्टि से इस वर्ग की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। अन्य स्वतन्त्र देशो मे एक व्यक्ति जिस विषय का विद्वान् होता है, उसी से आजीविका की सुविधा पाता है और उसी दिशा मे नूतन निर्माण करता है। हमारे जीवन मे विदेशी भापा का विशेष ज्ञान ही योग्यता का मापदण्ड है और उसी विपय का अध्ययन-अध्यापन अधिक अर्थलाभ का सुलभ साधन बन जाता है। पर उसमे नया सृजन करके कोई व्यक्ति विदेश मे विशेष महत्त्व पाने का अधिकारी नही वन पाता और अपनी भाषा मे कुछ करके वह स्वदेश मे बहुत साधारण ही माना जाता है। यह कठोर सत्य अनेक विद्वानो के जीवन मे परीक्षित हो चुका है, अत सावारण व्यक्ति तो किसी दशा मे भी कुछ करने की प्रेरणा नही पाता।

आज की परिस्थितियो मे भविष्य का जो सकेत मिलता है, उससे प्रकट हो रहा है कि स्थिति वदलते ही अपनी भाषा और साहित्य का महत्त्व बढ जायगा। ऐसी स्थिनि मे अपनी भापा ओर साहित्य-प्रेम के कारण असुविधाएँ सहनेवाले ही नही, विदेशी साहित्य के अध्यापन द्वारा सव प्रकार की सुविधाएँ पानेवाले शिक्षक भी, इस ओर देखने की आवश्यकता समझते है। इस प्रवृत्ति ने नयी विचार-धाराओ के साथ-साथ नयी समस्याएँ भी दी है।

नवीन साहित्यिक प्रगति मे इस वर्ग का सहयोग शुभ लक्षण है, पर इससे शुद्ध साहित्यकार और कलाकार की कठिनाई घटने के स्थान मे वढ ही रही है। इसके कारण है। अव तक दूसरी दिशा मे चलनेवाले व्यक्ति भी स्वार्जित ज्ञान के कारण, अपने साहित्य के क्षेत्र मे जिज्ञासु वनकर आने मे अपमान का अनुभव करते है।

इस प्रकार उन्हे कुछ नवीन देने का सकल्प और उसकी घोपणा करके आना पडता है।

पर देने के दो ही साधन है या तो उत्कृष्ट सृजन के लिए प्रतिभा या प्रतिभाओ के मूल्याकन की शक्ति। कहना व्यर्थ है कि पहला सबके लिए सम्भव नही, और दूसरा प्रयत्न-साध्य है। पर प्रयत्न-साध्य साधन भी देश-जातिगत विशेपता, सास्कृतिक चेतना, साहित्य-कला आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, जिसके लिए नवीन आलोचक के पास अवकाश नही। परिणामत इनके द्वारा जो मूल्याकन होता है और उस मूल्याकन की व्याख्या के लिए जो सृजन होता है, वह हमारे सास्कृतिक प्रश्न की उपेक्षा कर जाता है और इस प्रकार हमे अपने साहित्य, कला आदि की महत्ता नापने के लिए अन्य देश के मापदण्ड ही स्वीकार करने पडते है।

इस सम्वन्ध मे एक समस्या और उत्पन्न हो जाती है। तर्क-प्रधान ज्ञान तो विना अपनी विशेषता खोये हुए स्थानान्तरित किया जा सकता है, पर भाव-प्रधान काव्य, कला आदि अपनी धरती से इस प्रकार बँधे रहते है कि उनका एक वातावरण से दूसरे मे सञ्चरण, मानव की सम्पूर्ण सवेदनीयता चाहता है।

एक जाति के विज्ञान, दर्शन आदि सम्पूर्ण जोवन से सम्वन्ध न रखकर जीवन के कुछ मूलभूत तत्त्वो से सम्वन्ध रखते है और उनका लक्ष्य मानव की चेतना मे ज्ञान की वृद्धि करना है। परिणामत केवल चेतना की दृष्टि से उनका ग्रहण कही भी सहज हो सकेगा। इसके विपरीत काव्य, कला आदि सम्पूर्ण जीवन के माध्यम से जीवन के मूलतत्त्वो की अनुभूति देते है ओर उनका उद्देश्य विविधता मे एकता की भावना जगाकर मनुष्य को आनन्द देना है। अत किसी जाति के जीवन और उसके वातावरण के परिचय के विना काव्य, कला आदि का ग्रहण कठिन हो जाता है।

तर्क विशेप है, क्योकि वुद्धि की असख्य ऊँची-नीची श्रेणियाँ है। पर बुद्धि के एक स्तर पर खडे हुए दो व्यक्ति एक दूसरे के जीवन से अपरिचित रहते हुए भी ज्ञान का आदान-प्रदान कर सकेगे। भाव मे सामान्यता रहती है, पर यह सामान्यता वाहर से इतनी विविध है कि साथ-साथ चलनेवाले यात्री भी एक दूसरे के जीवन की परिस्थितियो को जाने विना, एक दूसरे के सुख-दु खो से तादात्म्य न कर सकेगे।

ससार के एक कोने का वैज्ञानिक दूसरे कोने के वैज्ञानिक की खोज के परिणाम को जिस तटस्थता से ग्रहण करता है, एक देश का दार्शनिक दूसरे दूर-देशीय दार्शनिक के तर्क की सूक्ष्मता को जिस निर्विकारता से स्वीकार करता है, उस तटस्थता और निर्विकारता से एक देश का कलाकार दूसरे देश के सगीत, चित्र, काव्य आदि को नही ग्रहण करेगा, क्योकि वह तो भाव को स्थायी रसत्व के रूप मे अपनी आत्मा

का सत्य बना लेना चाहता है। ऐसी स्थिति मे जब तक अन्यदेशीय कलाएँ जीवन की समस्त विविधता और उसमे व्यक्त सामञ्जस्यमूलक एकता लेकर नही उपस्थित होती, तब तक वे उसके निकट किसी अपरिचित का इतिवृत्त मात्र रहती है।

यथार्थवाद के सम्बन्ध मे यह कठिनाई और बढ जाती है, क्योकि वह सामान्य विविधता ही नही, विशेप इतिवृत्त के माध्यम से सवेदनीयता चाहता है। आदर्श उस आलोक के समान प्रसारगामी है, जो विविधता का रूप ग्रहण करके भी उससे ऊपर एक व्यापक सूक्ष्म स्थिति रखता है, पर यथार्थवाद उस जल-प्रवाह के समान रहेगा, जो अनन्त आकाश के नीचे ठहरने के लिए कठोर सम-विपम धरती और तटो की सीमा लेकर ही गतिशील हो सकता है।

कुछ नवीन देने के प्रयास मे नवीन आलोचक ने बहुत कुछ ऐसा दे डाला है, जो हमारी सामूहिक हीन भावना मे पनप कर फैलता जाता है।

कोई गोर्की की भूमिका मे है, कोई तुर्गनेव के जामे मे है, कोई किसी अन्य कलाकार का रूप भर रहा है। इस तरह दूसरो के आच्छादन मे कभी साँस रोककर सिकुडे हुए और कभी नि श्वास फेककर स्फीतकाय होनेवाले लेखक का दम घुटने लगे, तो आश्चर्य नही। भारतीय बना रहना, हमारे कलाकार का पर्याप्त परिचय क्यो नही हो सकता, यह प्रश्न भी सकीर्ण राष्ट्रीयता की परिधि मे आ जाता है। अत कुछ इस प्रवृत्ति ने और कुछ अपने जीवन को देखने की अनिच्छा ने आज के यथार्थवाद को प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता से छुटकारा दे दिया है। जिनके निकट रूस अब तक दुर्लभदर्शन है, वे उसके चित्र-गीत लिख सकते है, जिनकी कल्पना मे भी चीन प्रत्यक्ष नही, वे उसकी दृश्य-कथाएँ लिखने के अधिकारी है, पर जो देश उनके नेत्रो की नीलिमा मे प्रत्यक्ष है, उनके स्पन्दन मे बोलता है, उसके यथार्थ का प्रश्न उनसे सुलझ नही पाता।

सुलझानेवाले दो प्रकार के है। एक तो वे जो तीस दिन के उपरान्त निश्चित धन पाकर जीवन की असुविधाओ से मुक्ति पा लेते है और शेप उन्तीस दिनों मे कला के मूल्याकन, कलाकार के पथ-प्रदर्शन और उपाधि-वितरण द्वारा मनोविनोद का अवकाश निकाल लेते है और दूसरे वे जिन्हे पाठको की विविध माँगो का भार लादकर तथा आलोचको के उलझे-सुलझे आदेशो के बीच मे दब-पिसकर तीस दिन मे प्रतिदिन, दूसरा सवेरा देखने के लिए सघर्ष करते हुए, अमर कलाकार की भूमिका निबाहनी पडती है। आश्चर्य नही कि गन्तव्य खोजने मे वे अपने आपको खो देते है।

मजदूर और श्रमिक के विकृत चित्र ही यथार्थ है या नही, कला के नाम पर निम्नवर्ग को यही दिया जायगा या कुछ और भी आदि समस्याएँ तब तक नही सुलझ सकती, जब तक कलाकार अपनी स्थिति का विरोधाभास नही समझता।

वह अपने आपको श्रमजीवी कहता है और बुद्धि के अभिचार से जीता है, वह अमरता का मुकुट पहने है और तिल-तिल कर मरा जाता है, वह नूतन निर्माण चाहता है और उस मध्यवर्ग का सफल प्रतिनिधि है, जिसका परिचय मार्क्स के शब्दों मे—'Lacking faith in themselves, lacking faith in the people, grumbling at those above and trembling in face of those below.' (आत्मविश्वास से रहित, जनता के प्रति अविश्वासी, अपने से उच्च के प्रति भुनभुनानेवाला और अपने से निम्नवर्ग के सामने कॉप उठनेवाला) है।

नूतन निर्माण के लिए नवीन कलाकार को जीवन के कोने-कोने से खोजकर सब अमूल्य उपकरण एकत्र करने होगे, अत साधारण जीवन का सम्पर्क उसकी पहली आवश्यकता है।

निम्न वर्ग को कला के नाम पर क्या देना होगा, इसका उत्तर यदि वह अपनी जन्मदात्री धरती से नही चाहता, तो अपने विचारो की धात्री भूमि से भी पा सकता है। तात्कालिक समस्याएँ महत्त्व रखती है, पर उनका महत्त्व भी कला और साहित्य की मूल प्रेरणा मे तत्त्वत परिवर्तन नही कर सकता, इसी से क्रान्ति के ध्वंस और रक्तपात के ऊपर उठकर क्रान्तिस्रष्टा का स्वर गूँज उठता है—

'Many people are honestly convinced that the difficulties and danger of the moment can be overcome by 'bread and cheese.' Bread-certianly ! circuses-allright ! But we must not forget that the circus is not a great true art, Our workers and peasants truly deserve more than circuses. They have a right to true great art... So that art may come to the people and the people to art, we must first of all raise the general level of education and culture.'—Lenin

(अनेक व्यक्ति सच्चे मन से विश्वास करते है कि इस क्षण की सब कठिनाइयाँ और खतरे 'रोटी और पनीर' से दूर किये जा सकते है। रोटी आवश्यक रहेगी—सर्कस भी ठीक है। पर हमे यह नही भूलना चाहिए कि सर्कस कोई महत् और सच्ची कला नही। . हमारे श्रमजीवी और कृषक सर्कस से अधिक पाने के योग्य है। वे सत्य और महान् कला के अधिकारी है। कला को जनता तक पहुँचाने और जनता को कला के निकट लाने के लिए हमे सबसे पहले शिक्षा और सस्कृति का धरातल ऊँचा उठाना चाहिए।)

इसी सन्तुलित दृष्टि का अनुसरण करके रूसी जनता आज इस सत्य तक पहुँच सकी है— 'To live without work is robbery, to work

'without art is barbarism' ([illegible] श्रम [illegible] बर्बरता।)

नवीन कलाकार यदि बुद्धि का [illegible] प्रत्यक्ष देखेगा और नव मजदूर-कला [illegible] ही महान् और सत्य कला की प्राप्ति स्वाभाविक [illegible]।

जो कला के क्षेत्र में विशेष कुछ दे नहीं सकते, [illegible] प्रत्येक व्यक्ति में सांस्कृतिक चेतना और कला-प्रेम जगाने [illegible] करें, तो हमारे जीवन के अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाय। [illegible] और कृषक की सांस्कृतिक चेतना अब तक जीवित है, [illegible] हमारा [illegible] देशों से सरल सिद्ध होगा।

इस युग के कवि के सामने जो विषम परिस्थितियाँ हैं, उन पर [illegible] नहीं चाहती। आज संगठित जाति वीरगाथाकालीन [illegible] हो रही है, जो कवि चारणों के समान कण्ठों से उसे उत्तेजित [illegible] हो सके, वह ऐश्वर्यराशि पर बैठी परागज [illegible] नहीं [illegible] कवि विलास की मदिरा ढाल-ढालकर अपने आपको भूल [illegible] और [illegible] से क्षामकण्ठ भी नहीं है, जो कवि अध्यात्म की सुधा से उसकी प्यास बुझा [illegible]।

वास्तव में यह तो जीवन और चेतना के ऐसे विषम खण्डों में फटकर बिखर गयी है, जो सामञ्जस्य को जन्म देने में असमर्थ और परस्पर विरोधी उपकरणों से बने जान पड़ते हैं। इसका कारण कुछ तो हमारा व्यक्ति-प्रधान युग है और कुछ वह प्रवृत्ति जो हमें जीवन से कुछ न सीखकर अध्ययन से सब कुछ सीखने के लिए बाध्य करती है। हम संसार भर की विचारधाराओं में जीवन के मापदण्ड खोजते खोजते जीवन ही खो चुके हैं, अतः आज हम उन निर्जीव मापदण्डों की समष्टि मात्र हैं।

कवि के एक ओर अगणित वर्ग उपवर्गों में खण्डित मुट्ठीभर मनुष्यों की ज्ञानराशि है और दूसरी ओर रूढ़ियों में अचल, असंख्य निर्जीव पिण्डों में बिखरे मानव का अज्ञान-पुञ्ज है। एक अपने विशेष सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कवि का कण्ठ खरीदने को प्रस्तुत है और दूसरा उसकी वाणी से उतना अर्थ निकाल लेना भी नहीं जानता, जितना वह अपने आँगन में बोलनेवाले काक के शब्द का निकाल लेता है। एक ओर राजनीतिक उसे निष्क्रिय समझता है, दूसरी ओर समाज-सुधारक उसे अबोध कहता है। इसके अतिरिक्त उसका व्यक्तिगत जीवन भी है, जिसके सब सुनहले स्वप्नों और रंगीन कल्पनाओं पर, व्यापक विषमता ने निराशा की कालिमा फैलती जाती है।

इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का

चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही मार्ग शेष है कि वह अध्ययन मे मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड सिद्धातो का पाथेय छोडकर अपनी सम्पूर्ण सवेदन-शक्ति के साथ जीवन मे घुल-मिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज मूल्य नही रखती, क्योकि उसके सारे व्यष्टिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।

ऐसी क्रान्ति के अवसर पर सच्चे कलाकार पर—'पीर बवर्ची भिश्ती ख़र' की कहावत चरितार्थ हो जाती है—उसे स्वप्नद्रष्टा भी होना है, जीवन के क्षुत्क्षाम निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृषित मानवता को सवेदना का जल भी देना है और सबके अज्ञान का भार भी सहना है।

उसी के हृदय के तार इतने खिचे-सधे होते है कि हल्की-सी साँस से भी झकृत हो सके, उसी के जीवन मे इतनी विशालता सम्भव है कि उसमे सबके वर्गभेद एक होकर समा सके और उसी की भावना का अञ्चल इतना अछोर बन सकता है कि सबके आँसू और हँसी सञ्चित कर सके। साराश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनागारिक होकर भी ससार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग होकर भी सबके प्रति अनुरागी, अपने लिए सन्यासी होकर भी सबके लिए कर्मयोगी होना होगा, क्योकि आज उसे अपने आपको खोकर पाना है।

युग-युगान्तर से कवि जीवन के जिस कलात्मक रूप की भावना करता आ रहा है, आज उसे यदि मानवता के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचाना है, तो उसका कार्य उस युग से सहस्रगुण कठिन है, जब वह इस भावना को कुछ भावप्रवण मानवो को सहज ही सौप सकता था। वह सौदर्य और भावना की विराट् विविधता से भरे कलाभवन को जलाकर अपने पथ को सहज और कार्य को सरल कर सकता है, क्योकि तब उसे जीवन को निम्न स्तर पर केवल ग्रहण कर लेना होगा, उसे नयी दिशा मे ले जाना नही, परन्तु यह उसके अन्याय का कोई प्रतिकार नही है। फिर जब सज्ञाहीन मानवता अपनी सक्रिय चेतना लेकर जागेगी, तब वह इस प्रासाद के भीतर झाँकना ही चाहेगी, जिसके द्वार उसके लिए इतने दीर्घकाल से रुद्ध रहे है। वह मनुष्य, जिसने युगो के समुद्र के समुद्र बह जाने पर भी एक कलात्मक पत्थर का खण्ड नही बह जाने दिया, असीम शून्य से अनन्त स्वरो की लहरे मिट जाने पर भी एक कलात्मक पक्ति नही खोई, ऐसा खँडहर पाकर हमारे प्रति कृतज्ञ होकर कुछ और माँगेगा या नही, इसका प्रमाण अन्य जागृत देश दे सकेगे।

मनुष्य से कल्याणी कला का छोटा-से-छोटा अकुर उगाने के लिए भी आज के कवि को सम्पूर्ण जीवन की खाद प्रसन्नता से देनी होगी, इसमे मुझे सन्देह नही है।

# हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

● ●

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं मे सामान्य विशेपता बन गई है। जड वस्तुओ मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम मे प्रतिफलित होने वाला आदान-प्रदान नही। एक शिला दूसरी पर गिर कर उसे तोड सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रह कर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नही कही जायेगी, क्योकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य मे होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव मे लय करके, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनो से दूरातिदूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने मे समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की संगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम मे बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक दूसरे के समीप होते है, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनो प्रकार के सामीप्य परिणामत कितने भिन्न है! पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता मे एक, दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उमडता हुआ बादल और उमडता हुआ बमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जायेगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेगे। जिनके साथ मन शंकारहित नही हो सकता, उनकी निकटता सघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग मे मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य

का शकाकुल मन पास आने वालो से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विशाल और विविधता भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर मे ही जीवन की तत्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था, जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गयी। हमारे विकास-पथ पर व्यष्टिगत बुद्धि, समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नही उठा। इसी से सम्पूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमे बंटा जीवन एक ही सास्कृतिक उच्छवास मे स्पन्दित और अभिन्न रह सका है।

कही किसी सुन्दर भविष्य मे, अपरिचय इस ऐक्य के सूक्ष्म बन्धन को छिन्न न कर डाले, सम्भवत इसी आशका से अतीत के चिन्तको ने देश के कोने-कोने मे बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनो की खोज की। ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम सफलता का पर्याय है, ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया मे वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तियाँ मिट जाती है, ऐसी यात्राएँ, जो देश के किसी खड को अपरिचित नही रहने देती, आदि आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही कहे जायेगे।

अच्छे बुने हुए वस्त्र मे जैसे ताना-बाना व्यक्त नही होता, वैसे ही हमारी सांस्कृतिक एकता मे प्रयास प्रत्यक्ष नही है। पर है वह निश्चय ही युगो की अवि-राम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाएँ और विस्तार हमारे मनको बाँधने मे असमर्थ ही रहे, अत किसी भी कोने से आने वाले चिन्तन, दर्शन, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय मे अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने मे समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुंचाने वाले हमारे सिद्धान्तों मे ऐसा एक भी नही है, जिसमे असख्य तत्वान्वेषियो के चिन्तन की रेखाएँ न हो, उसे शिवता देने वाले आदर्शो मे ऐसा एक भी नही है, जिसमे अनेक साधको की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुन्दर बनाने वाले स्वप्नों मे एक भी ऐसा नही है, जिसमे युग-युगो के स्वप्नद्रष्टाओ की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी नालो की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने मे हमारा युग कोई महत्वपूर्ण योगदान नही देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नही कहा जायगा।

युगो के उपरान्त हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है, परन्तु

आज यदि हम इसे सास्कृतिक इकाई का पर्याय मान ले, तो यह हमारी भ्रान्ति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की वाह्य व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है, अत वह वल से भी वनाई जा सकती है। परन्तु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था मे वनती है, जिसमे मनुष्य भेदो से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए, वुद्धि से वुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस सम्वन्ध मे विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति, हर सघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते है। वर्षा की वाढ अपने साथ जो कूडा-कर्कट वहा लाती है, वह उसके वेग मे न ठहर पाता है, और न असुन्दर जान पडता है; पर वाढ के उतर जाने पर जो कूडा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपक कर स्थिर हो जाता है, वह असुन्दर भी लगता है और जल की स्वच्छता नष्ट भी करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरान्त ही लहरे उसे धारा के वहाव मे डाल कर जल को स्वच्छ कर पाती है।

वहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। सघर्ष के दिनो मे राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी दृष्टि का केन्द्र-विन्दु थी, और समस्याएँ भी जीवन के उसी अग से सम्वद्ध रह कर महत्व पाती थी। परन्तु, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त सघर्ष-जनित वेग के अभाव मे हमारी गति मे ऐसी शिथिलता आ गयी, जिसके कारण हमारे सास्कृतिक स्तर का निम्न और जड हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षो की समस्याएँ अपने-अपने समाधान मॉगने लगी। स्वतन्त्रता, अप्राप्ति के दिनो मे साध्य और उपभोग के समय साधनमात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप मे निरपेक्ष और पूर्ण नही कही जायगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को जीवन के सर्वागीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन मे गतिरोध का प्रश्न नही उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अन्त का दूसरा नाम है।

सभ्यता और सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियॉ महत्वपूर्ण हो सकती है, परन्तु प्रथम नही।

दर्शन, साहित्य आदि से सम्वद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती है। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती है और कभी उनका विरोध। एक अत्यन्त युद्धप्रिय जाति मे ऐसा विचारक या साहित्य-

कार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शान्ति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी, जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और सस्कृति किसी एक मे सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजवद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार मे ही सम्भव है। वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन ज्ञान, विज्ञान की कृतियाँ सम्भव होती हैं।

विगत कुछ वर्षो से हमारे जीवन से सस्कार के वन्धन टूटते जा रहे है और यदि यही क्रम रहा, तो आसन्न भविष्य मे हमारे लिए सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जायगा। हरे पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एक रसमयता मे वँधे रहते है, पर विखरने वाली पखुडियाँ और झडने वाले पत्ते न वृन्त के रस से रसमय रहते है, न वृन्त की जीवनी शक्ति से सन्तुलित।

हमारे समाज के सम्बन्ध मे भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवन्त है और न अपने देशगत सस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके विखरने की पूर्व सूचना है या नही, यह तो भविष्य ही वता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नही।

हमारे विपम आचरण, भ्रान्त असस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते है कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन है, पर यह भी मिथ्या नही कि हमारी मानसिक स्थिति हमे न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न सघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते है, परन्तु हमारी थकावट के मूल मे किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नही है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटे वदलने की क्रिया है, जो उसकी चिन्तनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन मे ऐसे सक्रान्तिकाल आते रहते है, जव उसकी मान्यताओ का कायाकल्प होता है, मूल्याकन के मान नये होते है और जीवन की गति मे पुरानी गहराई के साथ नयी व्यापकता का सगम होता है। परन्तु, जैसे नवीन वेगवती तरग का पुरानी मन्थर लहर मे मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही सस्कार और अधिक सस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का सगम सहज होता है, सुन्दर और सुन्दरतर, शिव और शिवतर, आशिक सत्य और अधिक आशिक सत्य मे कोई तात्विक विरोध नही हो सकता। सुन्दरतम्, शिवतम् और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमे सुन्दर, शिव और आशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य वनाने की आवश्यकता नही पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है, उस युग के सामने सत्य,

शिव, सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अँधेरे मे भटकना ही पडेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्यरहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अन्तर-बाह्यसस्कारो की परीक्षा करनी पडती है, निर्माण मे उसकी आस्था जगानी पडती है, सघर्ष को सृजन-योग बनाना पडता है।

आधुनिक युग मे मानसिक सस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध है, वे न द्रुतगामी है न सुलभ। पर, साधनो की खोज मे हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल कठोरता की छाया मे भी जीवित रह सकने वाली मानव-सवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी।

हमारे चारो ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरे प्रमाणित करती है कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है। पर, जिस दिन हमारी बुद्धि मे अभेद और सामञ्जस्य होगा, उस दिन हमारी सास्कृतिक परम्परा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी। जीवन के नव निर्माण मे साहित्य और कला विशेष योगदान देने मे समर्थ है, क्योकि वे मानव-भावना के उद्गीथ है। जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतो और दुस्तर समुद्रो को पार करने मे वर्षो का समय बिताता था, उस युग मे भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे है।

आज जब विज्ञान ने वर्षो को घन्टो मे बदल दिया है, तब साहित्य, कला आदि मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यो रहने दे, बुद्धि को बुद्धि का आतक क्यो बनने दे और हृदय को हृदय के विरोध मे क्यो खडा होने दे।

हम विश्व भर से परिचय की यात्रा मे निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो ले, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर मे अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के काले बादल उठते रहे, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जायेगे। अत आज दूरी को निकटता बनाने के मुहुर्त मे हमे निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।